दो शब्द

हेनरी नाइट मिलर अपनी "प्रेक्टिकल साइकालाजी" नामक पुस्तक में कहते हैं कि जीवन में वही मनुष्य सफल हो सकता है, जो अपने अवचेतन मन का उपयोग भले प्रकार से कर सकता है। मनुष्य का अवचेतन मन बहुत-सी फिल्मों का संग्रहालय है। वाह्य जगत में हम जो कुछ देखते हैं, वह किसी विशेष प्रकार की फिल्म का प्रक्षेपण मात्र है। यदि हमारे मन में सुन्दर चित्र हैं, तो वाह्य जगत हमे सुन्दर दिखाई देगा। और यदि हमारे अन्तर्मन के चित्र सुन्दर नहीं हैं, तो वाह्य जगत भी असुन्दर ही दिखाई देगा। मनोवैज्ञानिक अनुभव इसी एक सत्य को अनेक रूपो से अभिव्यक्त करता है। इसमें भारतीय संस्कृति और वातावरण के अनुसार विचार-प्रकाशन के ऐसे साधनों को अपनाया गया है, जिनसे उपर्युक्त सत्य सामान्य जनता के लिए सुबोध हो जाए।

मनुष्य यदि चाहे, तो वह अपने अवचेतन मन में उपस्थित चित्रों को बदल सकता है। यह किस प्रकार सम्भव है, प्रस्तुत लेखों में यही बताया गया है। संसार के सभी गम्भीर चिन्तक अब इस सत्य को मानने लगे हैं, कि जिस मनुष्य के विचार अपने वश में हैं, उसका सुख-दुःख भी अपने वश में है। मनुष्य का बाहरी वातावरण भी उसके विचारों के अनुरूप ही होता है। परन्तु विचारों को बदलना सामान्य पुरुषार्थ नहीं है। इसके लिए बड़े गंभीर चिन्तन और तपस्या की आवश्यकता होती है। प्रस्तुत लेखो में ऐसे सुझाव दिए गए हैं, जिनसे लोग अपने विचारों पर आधिपत्य जमा सकते हैं; तथा इस प्रकार वे अपना एवं दूसरों का जीवन सुखी बना सकते हैं।

प्रस्तुत लेख मनोविज्ञानशाला में अनेक मानसिक रोगियों के उपचार के अनुभव पर आश्रित हैं। ये लेख किसी प्रकार की मान्यता को लेकर नहीं चलते। लेखक तथा दूसरे मित्रो के अनुभव इन लेखों में प्रस्तुत किए गए हैं। आशा है कि इनसे जनसाधारण का मौलिक कल्याण होगा।

लालजी राम शुक्ल

मनोविज्ञान शाला,
सिद्धगिरि बाग, बनारस।
ता० १३-५-५६

विषय-सूची

आधुनिक युग में मनोविज्ञान की आवश्यकता

आधुनिक युग विज्ञानवादी है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य की सभी प्रकार की शक्तियों का विकास हुआ है। विज्ञान मनुष्य की निरीक्षणात्मक और आलोचनात्मक बुद्धि का परिणाम है। विज्ञान की वृद्धि से मनुष्य में ये शक्तियाँ और बढ़ जाती हैं। विज्ञान की वृद्धि होने पर मनुष्य दूसरों के भरोसे चिन्तन नहीं करता, वह स्वतंत्र चिन्तन करता है। इससे वह अनेक प्रकार के अंध-विश्वास और रूढ़िवादिता से मुक्त हो जाता है। परन्तु विज्ञान संशयात्मक बुद्धि को प्रश्रय देता है। जब आलोचनात्मक बुद्धि की वृद्धि अत्यधिक होती है, तब मनुष्य संशयवादी बन जाता है। आलोचनात्मक बुद्धि के कारण ही विचार की प्रगति होती है और जब यह अत्यधिक बढ़ती है तब निश्चयात्मक मनोवृत्ति को दृढ़ न कर सशयात्मक मनोवृत्ति को ही बढ़ाती है। इससे मनुष्य सदा भारी मानसिक अशान्ति का अनुभव करते रहता है।

मनुष्य का स्वत्व सदा किसी ठोस तत्व की प्राप्ति की चेष्टा करते रहता है। बिना निश्चल तत्व की प्राप्ति के मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं होती। विज्ञान ने अभी तक ऐसे किसी तत्व की प्राप्ति नहीं की है, जो मनुष्य को ढाढस दे कि वह किसी नित्य वस्तु की ओर जा रहा है। विज्ञान किसी नित्य तत्व के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं करता। विज्ञान के लिए सभी तत्व सापेक्षित हैं। विज्ञान की प्रगति यह दर्शाती है कि जिस तत्व अथवा सिद्धान्त को शाश्वत मान रहे हैं, वह दूसरे समय हमें और ही प्रकार का दिखाई दे सकता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति में मनुष्य धैर्ययुक्त नहीं रह सकता।

विज्ञान का सत्य जानने में असमर्थता उसे निम्न-कोटि के मूल्यों की प्राप्ति का साधनमात्र बना रही है। जब मनुष्य किसी उच्च-कोटि के मूल्य की प्राप्ति में अथवा उसके अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करता तो वह उन्हीं मूल्यों की ओर सचेष्ट हो जाता है, जो उसे प्राप्य है। इस तरह विज्ञान ऐन्द्रिक-सुखों की पूर्ति का साधन मात्र बन गया है। विज्ञान जिसे सत्य का साधन होना चाहिये, आज उपयोगितावादी बना हुआ है। विज्ञान में सबसे अधिक प्रगति करनेवाले राष्ट्र न तो शाश्वत सत्य के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और न उसकी प्राप्ति की चेष्टा को विवेकयुक्त समझते हैं। अमेरिका जैसा राष्ट्र जो विज्ञान में सर्वोत्कृष्ट प्रगति कर चुका है, दर्शन-विरोधी और उपयोगितावादी है।

विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य कल्पना के जगत से मुक्त हो गया है। विज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान को कल्पना से श्रेष्ठ मानता है। विज्ञान में कल्पना के

लिए कोई स्थान नहीं। परन्तु मानव जीवन कल्पना के विना चल नहीं सकता। विज्ञान की वृद्धि कला, कविता और धार्मिक गाथाओं को समाप्त करती है। जैसे जैसे विज्ञान प्रगति करता है, कविता और कला का ह्रास होता है। परन्तु मनुष्य के मानसिक खिंचाव को कम करने के लिये इनकी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि व्यवहारिक जगत में अनेक प्रकार की क्रियाओं का करना बाहरी चिन्ताओं के विनाश करने के लिये आवश्यक है। कला, कविता और धर्म अचेतन मनके चेतना पर व्यक्त होने के उपाय हैं। कल्पना का मूल भाव में है, जो अचेतन मनकी वस्तु है। इस पर बुद्धि का नियन्त्रण सम्भव नहीं। जब बुद्धि भावों की अवहेलना करती है, तब वह स्वयं प्रच्छन्न हो जाती है। अतएव जैसे-जैसे विज्ञान की वृद्धि होती जा रही है और मनुष्य शुद्ध बुद्धिवादी बनते जा रहा है, ससार में विक्षिप्तता भी बढ़ती जा रही है। विज्ञान में उन्नत देशों में जितने अधिक विक्षिप्त लोग होते हैं, उतनी संख्या में विक्षिप्त विज्ञान में पिछड़े हुए देशों में नहीं होते।

विज्ञान की वृद्धि से कल्पना की सृष्टि का जो विनाश हुआ है, उसकी पूर्ति करना मानव समाज के सुख और शान्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार की पूर्ति प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आवश्यक है। विज्ञान ने धर्म को समाज से उठा लिया है। परन्तु उसके अभाव की पूर्ति नहीं की; अतएव आज मनुष्य का मन भुतैले घर जैसा भयानक बन गया है। किसी भी आधुनिक शिक्षित व्यक्ति को अकेले कहीं छोड़ दीजिये, वह दस पांच घंटे भी किसी एक स्थान पर नहीं रह सकता। उसके लिए अपना ही मन भार बन जाता है। वह किसी न किसी बाहरी काम में अपने आपको शीघ्रातिशीघ्र लगाने की चेष्टा करता है और उसे यदि ऐसा काम न मिले तो वह रोग का आवाहन करता है। यदि किसी रोग का सहारा उसे न मिले तो वह पागल हो जाता है। प्राचीनकाल में वर्षों मनस्वी लोग एकान्त निवास करते थे अथवा मौनी बने रहते थे। आज इस प्रकार के व्यक्ति का होना संभव नहीं। जहाँ तक विज्ञान की वृद्धि होगी मनकी चंचलता बढ़ेगी और मानसिक अशान्ति इसके साथ-साथ रहेगी।

विज्ञान के इस प्रकार के परिणाम इसलिये हुए हैं कि विज्ञान मनुष्य को बहिर्मुखी होने का प्रश्रय देता है। विज्ञान का क्षेत्र चलायमान जगत है, वह प्रपंचात्मक जगत के नियमों को खोजने की चेष्टा करता है। जो पदार्थ परिवर्तनशील है, उनमें शाश्वत तत्व की खोज करना निरर्थक है। शाश्वत तत्व न मिलने के कारण मनुष्य को आन्तरिक शान्ति नहीं होती। यह आन्तरिक शाति

मनुष्य को तभी हो सकती है, जब वह सत्य की खोज परिवर्तनशील जगत् में न कर स्वयं में करे। ज्ञेय पदार्थ में नित्य शान्ति की प्राप्ति की चेष्टा न कर ज्ञाता में ही उसको पाने की चेष्टा करे। विज्ञान बुद्धि को प्रश्रय देता है। मनोविज्ञान का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य बुद्धि और मनकी चंचलता को कम करना है।

हमारी कल्पना का संसार नष्ट हो चुका। उसे अब फिर से निर्मित करना और उसकी आस्था में विश्वास करना संभव नहीं। मनुष्य धार्मिक तभी तक रहता है, जब तक उसे धर्म की बातों में ईश्वर, देवी-देवता आदि के अस्तित्व में सम्पूर्ण विश्वास रहता है। जब एक बार इनके अस्तित्व में मनुष्य को सन्देह हुआ, अर्थात् जब एक बार विज्ञानवादी विचार उसके मन में आ गया; तब उसे फिर से धर्मवादी अथवा कल्पनावादी बनाना संभव नहीं। विज्ञानवादी बुद्धि मनुष्य को धर्म के तत्वों को बाह्य जगत में खोजने की प्रेरणा देती है। परन्तु धर्म में कहे गये देवी-देवता और ईश्वर वैज्ञानिक विधि से खोजने पर प्राप्त नहीं होते। वास्तव में ये मनुष्य के अचेतन मन के किसी काल्पनिक विचार पर आरोपण मात्र है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार ईश्वर, देवी-देवता और भूत-प्रेत मनुष्य के स्वभाव के ही किसी गुप्त अंग की कल्पना का मूर्तिकरण हैं। जब हमारे किसी उच्च कोटि के मनोभाव का आरोपण किसी मानव के ऊपर होता है तो, हम उसे ईश्वर का अवतार कहने लगते हैं; और जब किसी गुप्त वीभत्स अथवा शैतानी मनोभाव का आरोपण किसी लौकिक व्यक्ति पर हो जाता है, तो हम उसे राक्षस, दैत्य इत्यादि नाम से पुकारते हैं। ईश्वर मनुष्य के सर्वोच्च स्वत्व का मूर्तिकरण है। इसी प्रकार भूत-पिशाच आदि उसके नैतिकता विरोधी दमित स्वत्व के मूर्तिकरण हैं।

मनोविज्ञान हमें अपने ही सम्पूर्ण स्वत्व का ज्ञान कराकर अपने विभिन्न मानसिक स्तरों को अपने वश में रखने की क्षमता देता है। जब कोई बालक सिनेमा घर में जाता है और वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के खेलों को देखता है; तो वह उनसे उसी प्रकार से प्रभावित होता है, जैसे कि वे घटनायें वास्तविक हों। जब प्रौढ़ व्यक्ति उन्हीं सिनेमाघरों में जाता है तो वह सिनेमा में दिखाये गये दृश्यों का रहस्य समझता है। इन दृश्यों को देखकर वह अपना मनोरंजन करता है, परन्तु वह बालक जैसा कल्पित दृश्यों को वास्तविक नहीं मान बैठता। मनोविज्ञान के ज्ञाता की मानसिक स्थिति उस समझदार प्रौढ़ व्यक्ति के समान है जो सिनेमा के दृश्यों से आनंद तो उठाता है; परन्तु उनमें दिखाये गये दुःख-सुख के दृश्यों से विमोहित नहीं होता। मनोविज्ञान का सर्वोत्तम ध्येय मनुष्य को संसार की सभी घटनाओं के प्रति साक्षीवत् रहने की क्षमता प्रदान करना है।

मनुष्य के व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक खोजें

मनोविज्ञान के ज्ञान का जैसे-जैसे प्रसार होता जा रहा है, तैसे-तैसे मनुष्य का व्यक्तित्व रहस्यमय वस्तु बन रहा है। जिन लोगों को आन्तरिक मन का ज्ञान नहीं है उन्हें किसी मनुष्य के व्यक्तित्व के बारे में निश्चित बातें कह देना सरल है, परन्तु जिन लोगोंने आन्तरिक मन का अध्ययन किया है उनके लिए मनुष्य का व्यक्तित्व रहस्यमय बन जाता है। सामान्य बुद्धि के लोग मनुष्य के व्यक्तित्व का एक्य उसकी शारीरिक बनावट से कर देते हैं। शरीर का ही एक अंग मस्तिष्क है और मस्तिष्क के एक विशेष भाग का कार्य चिन्तन करना है। यह चिन्तन का कार्य प्राकृतिक रूप से मस्तिष्क में चलता है। इस चिन्तनशील वस्तु को ही मन कहते हैं। अतएव इस विचार के लोगों के अनुसार यदि मनुष्य के मस्तिष्क की आन्तरिक बनावट को समझ जायँ तो हमें उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाय। ऐसे लोग मनुष्य के मस्तिष्क को रहस्यमय वस्तु कहनेवाले लोगों की बुद्धि को दयनीय समझते हैं।

फ्रायड, युंग, एडलर और दूसरे मनोवैज्ञानिकों की खोजों से अब पता चल रहा है कि मनुष्य के मन को समझना इतना सरल नहीं है, जितना उपर्युक्त बुद्धि के लोगों ने समझ लिया है। फिर द्विव्यक्तित्व, बहुव्यक्तित्व आदि की खोजों से पता चलता है कि एक ही शरीर में अनेक व्यक्तित्व रहते हैं, व्यक्तित्व के विच्छेदित अवस्था में मनुष्य के मन का एक भाग दूसरे भाग का विरोध करता है। एक ही शरीर में दो अथवा तीन ऐसे संगठन उपस्थित हो जाते हैं, जिनकी इच्छायें, आकांक्षायें भिन्न-भिन्न होती हैं और जिनमें समन्वय स्थापित करना बड़ा ही कठिन होता है। मार्टिन प्रिंस महाशय ने ऐसे अनेक व्यक्तियों का अध्ययन किया है जिनके एक ही शरीर मे दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति उपस्थित थे। इस प्रकार का उदाहरण ब्यूचाम्प नामक महिला का है। इस महिला के मन में तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व उपस्थित थे। इनमें एक साधारण स्वभाव वाला था, दूसरा सन्त स्वभाव का और तीसरा शैतान स्वभाव का था। साधारण स्वभाववाले व्यक्तित्व को दूसरे दो व्यक्तित्वों का कुछ ज्ञान न था। परन्तु शैतान व्यक्तित्व को दूसरे दोनों व्यक्तित्व की क्रियाओं का ज्ञान रहता था और यह व्यक्तित्व पहले दो व्यक्तित्वों के साथ शैतानी का कार्य करते रहता था। मान लीजिये कि साधारण व्यक्तित्व ने, जिसका नाम शैली रख दिया गया था, कोई पुस्तक एक आलमारी में रख दी है। जब शैतान उसके शरीर में आ जाता तो उस पुस्तक को कहीं उठाकर छिपा देता था अर्थात् शरीर से महिला एक ही रहती थी,

पर शरीर को यन्त्र के रूप में दूसरा ही व्यक्तित्व काम में लाने लगता था। कभी-कभी यह शैतान व्यक्तित्व महिला से उसकी इच्छा के विरुद्ध काम करा डालता था। जिस बात को वह नहीं कहना चाहती थी उसे कहलवा देता था, और अनेक प्रकार की व्यवहारिक भूलें करा देता था। पीछे यह प्रकट होकर पहले व्यक्तित्व का उपहास करता था। मार्टिन प्रिंस के व्यक्तित्व-सम्बन्धी इस खोज से यह निश्चित होता है कि व्यक्तित्व एक सम्पूर्ण वस्तु नहीं है, वरन् एक ही मनुष्य में अनेक व्यक्तित्व उपस्थित रह सकते हैं और इन व्यक्तित्व में धीरे-धीरे एकता उपस्थित होती रहती है।

मार्टिन प्रिंस ने एक असाधारण घटना का वर्णन करके साधारण मनुष्यों के व्यक्तित्वों पर भी प्रकाश डाला है। हम अपने जीवन में प्रायः देखते हैं कि हम विशेष प्रकार का कार्य नहीं करना चाहते, परन्तु कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध हमसे वह काम हो जाता है। मनोविज्ञानशाला में कई ऐसे व्यक्ति आते हैं, जो किसी विशेष प्रकार की काम-क्रीड़ाओं को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु वे बलात् उनमें किसी समय लग जाते हैं। इन क्रियाओं के हो जाने पर वे पश्चाताप भी करते हैं; परन्तु फिर भी उनमें बार-बार लगते रहते हैं। कभी-कभी विद्यार्थी जब दूसरों से बातचीत करता है तो उसका चित्त बड़ा शान्त रहता है उसमें चित्त की एकाग्रता रहती है, परन्तु जब पढ़ने बैठता है तो अनायास अनेक प्रकार के निराशावादी विचार उसके मस्तिष्क में घुस जाते हैं। एक विद्यार्थी जभी पढ़ने बैठता था, तभी उसके मस्तिष्क में सिनेमा के सुने हुए एक गाने की कड़ियाँ गूँजने लगती थीं। कुछ लोगों को ठीक पढ़ाई के समय अचानक सिर की पीड़ा, खुजलाहट, अथवा किसी विशेष अंग में जलन उत्पन्न हो जाती है। एक विद्यार्थी को, जभी वह गणित के प्रश्न करने बैठता है, जननेन्द्रिय के पास इतनी जलन होती है कि वह पढ़ ही नहीं सकता। जब वह गणित की पुस्तकों को अलग रख देता है तब वह ठीक हो जाता है। एक दूसरे विद्यार्थी को दर्शन की परीक्षा में बैठते ही, केवल दो घंटे के लिये मस्तिष्क में इतनी असह्य पीड़ा हुई कि इसके कारण वह उत्तर-पुस्तिका पर कुछ न लिख सका। उसे विवश होकर परीक्षा-भवन से बाहर आ जाना पड़ा। जब उसने परीक्षा देने का संकल्प छोड़ दिया तो सिर की पीड़ा एकाएक समाप्त हो गई।

इन घटनाओं से क्या हम इसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते कि साधारण लोगों के व्यक्तित्व में उसी प्रकार शैतानी व्यक्तित्व भी बैठे रहते हैं, और सामान्य कार्यकर्ता के कामों में बाधा उसी प्रकार डालते रहते हैं, जिस प्रकार मार्टिन प्रिंस द्वारा बताई गई महिला के व्यक्तित्व के विरुद्ध शैतान शैली षड्यन्त्र रचा करती।

मानसिक रोग और है क्या ? मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य के स्वत्व में उपस्थित अनेक प्रकार के व्यक्तित्व आपस मे झगड़ा करते रहते हैं। कभी-कभी यह झगड़ा मनुष्यकी जानकारी में होता है और कभी यह उसके अनजाने ही होता है। झगड़े के परिणाम स्वरूप मनुष्य के जीवनमे अशान्ति, मानसिक क्लेश, इच्छाशक्ति की दुर्बलता, आत्म-विश्वास की कमी, अकारण भय और चिन्ता, और अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोग होते हैं। यदि मनुष्य के स्वत्वों मे सम्पूर्ण एकता स्थापित हो जाय, तो वह कितना शक्तिशाली प्राणी बनेगा, इसका कौन अन्दाज लगा सकता है। जो व्यक्ति आज निकम्मा और रोगी दिखाई दे रहा है, वही सत्वों की एकता प्राप्त करने पर संसार को अपनी प्रतिभा और चामत्कारिक कार्यों से विस्मित कर सकता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व विभिन्न प्रकार की ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक प्रवृत्तियों का परिणाम होता है। कभी-कभी मनुष्य की अनेक प्रकार की क्रियात्मक अथवा भावात्मक प्रवृत्तियों में समन्वय रहता है, और कभी-कभी इनमें विरोध रहता है, सम्पूर्ण एकता तो कभी होती ही नहीं है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण स्वत्व के एक थोड़े से भाग में एकत्व स्थापित करता है और इसी को वह अपना व्यक्तित्व कहता है। साधारणत· जितने स्वत्वों को अर्थात् ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक प्रवृतियों को वह जानता है, उतने को वह अपना व्यक्तित्व कहता है। इसी को अँग्रेजी में 'परसनैलिटी' कहते हैं। परसनैलिटी को कभी-कभी मनुष्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व कहता है। यह भारी मनोवैज्ञानिक भूल है। परसनैलिटी यूनानी भाषा के 'परसना' शब्द से बनी है जिसका अर्थ है चेहरा, जो कि खेल के समय विभिन्न पात्र लगाया करते हैं। परसनालिटी चेतन मन की वस्तु है। यह कभी-कभी उसके अचेतन मन के ऊपर आवरण डालती है। इसी को हमने व्यक्तित्व कहा है। यह मनुष्य के अहंभाव का प्रतीक है।

प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व को महान बनाना चाहता है। इसी के लिये वह धन कमाता है, पढ़ता लिखता है और लोकोपकारी कार्य करता है। इस-व्यक्तित्व की महानता साधारणतः उपादेय वस्तु है। परन्तु कभी-कभी मनुष्य की महानता आन्तरिक हीनता का आवरण मात्र होती है। मनुष्य अपने ज्ञात स्वत्व में बड़ा नैतिक हो सकता है, और अज्ञात स्वत्व में अनुदार, क्रूर और व्यभिचारी हो सकता है। ज्ञात व्यक्तित्व में वह भोगलिप्सा से मुक्त दिखलाई दे सकता है, परन्तु आन्तरिक स्वत्व मे भोगेच्छु रह सकता है। जब बाहरी स्वत्व और आन्तरिक स्वत्व में विरोध अधिक होता है तो द्वै व्यक्तित्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति को समाप्त करने के लिये मनुष्य को अपने

व्यक्तित्व की महानता का अभिमान खोना पड़ता है। व्यक्तित्व की महानता का अभिमान रखनेवाले मनुष्य के जीवन में सदा मानसिक खिंचाव की स्थिति बनी रहती है। यह मानसिक खिंचाव ही उसके शरीर में अनेक प्रकार के रोगों को उपस्थित करता है और अनेक प्रकार की जटिल परिस्थितियों में उसे डालता है। मानसिक खिंचाववाला व्यक्ति चाहे कितने ही भले लोगों के साथ क्यों न रहे, अनायास उनसे झगड़ने लगता है। वह अपने आपसे झगड़ते रहने की मानसिक स्थिति का आरोपण मात्र है। जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिमान को कम कर देता है तो उसके मन का खिंचाव यकायक कम हो जाता है। उसके स्वत्व के विभिन्न स्तरों में स्वत समन्वय स्थापित हो जाता है। संसार के सभी धर्मोपासनाओं में अपने आप को भुलाने की शिक्षा दी गई है। ऐसे अनेक प्रकार के अभ्यास बताए गये हैं, जिनसे मनुष्य अपने चेतन स्वत्व को जान-बूझकर भुला सके। जान-बूझकर अपने आपको भुलाने के प्रयत्न से मनुष्य को जो आरोग्य लाभ होता है, वह किसी अन्य प्रकार से नहीं होता।

मनुष्य को अपने व्यक्तित्व को नैसर्गिक रूप से भी भुलाना पड़ता है। नींद में, मूर्च्छा में अथवा सम्मोहन में मनुष्य को बलात् अपने व्यक्तित्व को भुलाना पड़ता है। यदि किसी मनुष्य को बहुत दिनों तक नींद न आवे, तो उसे पागलपन आ जाता है। अर्थात् व्यक्तित्व स्वयं एक भार है, जिसे मनुष्य को अपने आप से उतार देना अत्यन्त आवश्यक है। तभी वह स्वस्थ रह सकता है। जो मनुष्य लोक में व्यवहार करते समय एक विशेष प्रकार की पोशाक के समान व्यक्तित्व को धारण कर लेता है और लोक व्यवहार के पश्चात् उसे उतार कर अलग रख देता है, वही प्रसन्न चित्त और स्वस्थ रहता है। कुशल मानसिक चिकित्सक रोगी को आरोग्य प्रदान करने के लिये उसे अपने व्यक्तित्व को भुलाने की सलाह देता है। और इस भुलाने के कार्य में उसकी वह सहायता भी करता है। जब मनुष्य जान बूझकर अपने व्यक्तित्व को भुलाने की चेष्टा करता है अथवा व्यक्तित्व की महानता के प्रति उदासीन हो जाता है, तो वह अपना कुछ खोता नहीं है। वह अपने सीमित स्वत्व को छोड़कर असीम स्वत्व के प्रति एकत्व स्थापित करता है। जानबूझकर अपने व्यक्तित्व के अभिमान को छोड़ देना देशकाल और कारण-कार्य से परे उस तत्व की प्राप्ति करना है, जो सभी प्राणियों में व्यक्तित्व के रूप में प्रकाशित होता है। सीमाओं का अभिमान छोड़ने पर मनुष्य अपने आपको अनन्त के रूप में पा लेता है। जब मनुष्य लौकिक सुखके प्रति उदासीन हो जाता है, तो परमानन्द की प्राप्ति कर लेता है। ऐसा व्यक्ति अपने भीतर अनन्तवीर्य, अनन्त उत्साह और अनन्त ज्ञान की अनुभूति करता है।

आधुनिक काल की पैरा साइकालाजी की खोजों से पता चला है कि मनुष्य एक स्थान पर रहकर वहाँसे दूर की घटनाओं को बिना भौतिक साधनों के जान सकता है। वह दूसरे व्यक्ति के मन में चलनेवाले विचारों को बिना उसके कहे जान सकता है। अतीत काल में हुई घटना को बिना इतिहास के ज्ञान के वह जान सकता है। इस प्रकार की मानसिक शक्तियाँ उसके मन को विशेष प्रकार की शान्त अवस्था में प्राप्त हो जाती हैं। कितने ही सन्त बड़े-बड़े मानसिक और शारीरिक रोगों को अपने स्पर्श मात्र से समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार के चमत्कारों के पीछे यह रहस्य छिपा है, कि ये लोग अपने सीमित व्यक्तित्व के अभिमान से मुक्त रहते हैं और अपना एकत्व महान स्वत्व के प्रति स्थापित किये रहते हैं। जो व्यक्ति जानबूझकर अपने आपको व्यक्तित्व के अभिमान से जितना मुक्त रखता है, वह उतना ही अधिक क्रिया और ज्ञानशक्ति को धारण करता है।



मनकी अद्भुत शक्तियाँ

मनुष्य के मनमें कितनी शक्ति है, इसका ज्ञान विरले ही मनुष्यों को है। आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वश्रेष्ठ विद्वान श्री चार्ल्सयुंग महाशय का कथन है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व के बल को उतनी ही दूर तक बढ़ाता है, जितनी दूर तक वह अपनी अज्ञात मानसिक शक्ति को जानता है, और उसे अपनी इच्छा शक्ति की काबू में लाता है। हमें अपने अचेतन मन का ज्ञान नहीं है। अतएव हम अपनी ही शक्तियों को नहीं जानते। फ्रायड महाशय की विचार-धारा के अनुसार अचेतन मन मनुष्य की दबी वासनाओं का ही भंडार है। मनुष्य के जीवन की बाधाओं और उसके दुर्गुणों की जड़ इसी अचेतन मनमें है। परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि अचेतन मन मनुष्य की कल्पनातीत महान शक्तियों का भी भण्डार है। और इन शक्तियों का हमें जैसे-जैसे ज्ञान होता जाता है; तैसे-तैसे हम अपने आपको साधारण व्यक्ति से महान बना लेते हैं।

हमारे अचेतन मनमें दूसरे लोगों के विचारों को ज्ञात करने की शक्ति है और यह भी कि अपने पास आये व्यक्ति का स्वभाव कैसा है। इसी प्रकार अचेतन मनमें रोगी को आरोग्य प्रदान करने कि शक्ति है। लेखक के पड़ोसमें लकड़िया बाबा रहते है। इनके पास आये हुये व्यक्ति के विचार जानने कि शक्ति है। जब कोई व्यक्ति कोई प्रश्न पूछना चाहता है, तो वे उस व्यक्ति के प्रश्न पूछने के पूर्व उसके प्रश्नों को लिख देते हैं। प्रश्न के उत्तर में अन्दाज की बातें होती हैं। परन्तु प्रश्नो को लिख देना, यह चीज बहुत कुछ वास्तवकिता से मिलती है। जब कोई व्यक्ति प्रश्न पूछने आता है तो लकड़िया बाबा एक स्लेट पर जल्दी-जल्दी कुछ बातें लिखते जाते हैं, इन बातों में इधर उधर अर्थ लगाने कि सम्भावना रहती है, फिर वे उस व्यक्ति से प्रश्न पूछते हैं। और अपने लेख से मिलान करने को कहते हैं। प्रश्न कर्ता के बहुत कुछ प्रश्न लकड़िया बाबा के प्रश्नों से मिल जाते हैं।

जब ऐसा लेख लिखा जाता है तब लिखने वाले को स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता कि उसका हाथ क्या लिख रहा है। लेख लिखते समय बुद्धि जितना ही दखल देती है उतना ही लिखावट केवल सम्भावना मात्र रह जाती है। इस प्रकार का लेख लिखने के लिये सभी समय मनुष्य में यह शक्ति नहीं रहती; यह शक्ति किसी विशेष मानसिक स्थिति में उसे आजाती है।

लेखक अपने एक मित्र उल्फ महाशय से, जो जर्मन देश के निवासी है, मिला। कई मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक बातों पर बात-चीत हुई। लेखक के

उक्त मित्र विश्वविद्यालय के स्कूल में प्रधानाध्यापक है। बात ही बातमे उन्होंने अपने बायें हाथ की शक्ति का एक प्रदर्शन किया। उनका बाया हाथ किसी-किसी व्यक्ति के मनो भावों को जानने की शक्ति रखता है। यदि कोई व्यक्ति स्वार्थी मनका होता है तो उनका हाथ उस व्यक्ति के हाथ से चिपक जाता है और अपने हाथ को उठाने में उन्हें काफी जोर लगाना पड़ता है, यदि कोई व्यक्ति उदार मनका हुआ तो उनका हाथ अपने आपही ऊपर उठने लगता है। यह क्रिया इच्छा शक्ति से स्वतन्त्र होती है।

इन जर्मन मित्र ने यह भी बताया कि कभी-कभी व्यक्ति के शरीर पर उस बायें हाथ को फेरने से उसका रोग चला जाता है। एक बार उनकी पत्नी के सिर में दर्द हुआ। उन्होंने अपनी स्त्री के सिर पर बार-बार हाथ फेरा। स्त्री के सिर की पीड़ा जाती रही। परंतु इस हाथ में झिनझिनी जैसा अनुभव होने लगा। कुछ देर बाद स्वयं उल्फ महाशय को उसी स्थान पर शिर की पीड़ा होने लगी जिस स्थान पर उनकी स्त्री को शिर की पीड़ा हो रही थी। पीछे यह पीड़ा जाती रही।

उल्फ महाशय किसी पत्र को बाये हाथ में नहीं लेते। बायें हाथ में पत्र के भावों से प्रभावित होने की शक्ति है; अतएव कभी-कभी उल्फ महाशय इसके कारण मानसिक परेशानी मे पड़ जाते हैं। एक बार एक पत्र को उन्होंने बिना पढ़े जेब मे रखलिया। यह उनके बायें हाथ में कुछ देर तक रहा था। इस पत्रे के जेब में आते ही उन्हे ज्वर तथा कँपकपी का अनुभव हुआ। उन्हें बहुत जाड़ा लगा। अतएव उन्होंने अपना ओवर कोट पहन लिया। उनकी स्त्री जो मनोविज्ञान की विदुषी है, पास ही में थी। वह कहने लगी कि क्या तुम्हें हिस्टीरिया तो नहीं हो गया? पीछे उन्होंने लिहाफ ओढ़ने के लिये कपड़े उतारे, उन कपड़ोंमें वह कागज भी चला गया जो उनके जेब में था; फिर सारा अनुभव समाप्त हो गया।

लेखक के एक मित्र स्थानीय स्कूल में ड्राइंग मास्टर हैं। इनके हाथ से विशेष प्रकार की शक्ति है वे किसी भी व्यक्ति को हाथ के स्पर्श से उसके हाथ में अपने हाथ की अंगुली लगा कर इच्छित सुगन्ध पैदा कर देते हैं। लेखक के सामने उन्होंने कई मित्रों को जूही, गुलाब, कमल, आदि फूलों की सुगन्ध का अपने हाथ की उगली से छू कर अनुभव कराया, जब लेखक की बारी आई तो वह उनसे बोला कि आप मिट्टी के तेल की गंध मेरे हाथ में उत्पन्न कीजिये। उन्होंने कहा कि दुर्गन्ध नहीं उत्पन्न की जा सकती, सुगन्ध ही उत्पन्न की जा सकती है। फिर लेखक ने उनसे केवड़ा की सुगन्ध उत्पन्न करने के लिये कहा। लेखक मनोवैज्ञानिक होने के नाते यह जानता था कि मित्र केवल निर्देश की शक्ति से

काम लेते हैं। अतएव उनकी मानसिक शक्ति के विरुद्ध अपनी इच्छा शक्ति को लगाया। परन्तु फिर भी सुगन्धि हाथ में आने लगी और तीन घंटे तक रही।

यदि दो व्यक्तियों में भावों की समानता है, दोनों का आपस मे घनिष्ठ प्रेम है, तो एक व्यक्ति के विचार दूसरे व्यक्ति के मनमें बिना भावों अथवा अन्य संकेतों द्वारा प्रकाशित हुये ही चले जाते हैं। रोगी में इस प्रकार के विचारों को जानने की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। यदि कोई नजदीक का संबंधी रोगीकी स्थिति के विषय में चिन्तित है और वह अपने विचार को ऊपरी प्रसन्नता दिखाते हुये छिपाता है, तो भी रोगी उसके सच्चे भावों को जान लेता है। आस-पास के लोगों की चिन्ता के विचार रोगी के स्वास्थ्य लाभ करनेकी शक्ति को घटा देते हैं। कभी-कभी अपने सम्बन्धी की दूर की चिन्ता भी मनुष्य को प्रभावित करती है। लेखक के एक मित्र की बहिन को अपने पुत्र के बारे में चिन्ता हुई कि कहीं उसका लड़का, जो लखनऊ से बनारस जा रहा था, गंगा-स्नान करते समय डूबकर मर न जाय। उस समय माँ मेरठ में थी। परतु माँ के चिन्ता-युक्त विचारों ने पुत्र के आतरिक मन पर प्रभाव डाला। लड़का पहले ही दिन गंगाजी गया और उसने अपने मामा के साथ डुबकी लगाई तो वह कहीं चट्टान में फँस गया। और बिना पेट में पानी गये ही हृदय की गति रुक जाने से मर गया। माता के पास जब तार गया, तब वह तार देखते ही उसका अर्थ जान गई। यह कहा जा सकता है कि होने वाली घटना का ज्ञान माता के मनमें आगया था। चाहे जो अर्थ इस घटना का लगाया जाय; यह मनकी अद्भुत शक्ति को दर्शाता है।

दृढ़ इच्छा से दूसरे व्यक्ति का रोग अपने ऊपर लिया जा सकता है। इसका एक ऐतिहासिक उदाहरण बाबर और हुमायूँ की उस बीमारी का है, जिससे एक की मृत्यु हो गई और दूसरा बच गया। कई बार शान्त भाव से रोगी को आरोग्य का निर्देश देने से रोगी आरोग्य लाभ कर लेता है। जिस व्यक्ति का मन मानसिक अन्तद्वन्द से जितना मुक्त होता है उसकी मानसिक शक्ति उतनी ही अधिक विकसित होती है। इस शक्ति को आत्म निर्देशन के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। इसके सदुपयोग से शक्ति औरभी बढ़ जाती है।

लेखक के एक मित्र, जो सन्यासी हैं, रोगी के ऊपर हाथ फेर कर चिकित्सा करते हैं। लेखक के सामने ही बहुत दिनों से पीड़ित चेचकका एक रोगी आ गया; उसके ऊपर मित्र ने तीन बार हाथ फेरा, उसके पश्चात उसे घर चले जानेको कहा। तीन दिन में उसने आरोग्य लाभ कर लिया, उसके रोग की भयानकता जाती रही। इसी साधु का ध्यान करते हुये लेखक ने अपने एक मित्र के शरीर पर उन्हे लिटा कर हाथ फेरा। उन्हे कई दिन से पेचिस और पेट की पीड़ा की बीमारी थी।

हाथ फेरते-फेरते उन्हे नींद आ गई। सोकर उठे तो उनकी पीड़ा जाती रही और उनका रोग भी अच्छा हो गया।

मनुष्य का मन जागते और सोते दोनों समय काम करता है। इमील कूँए महाशय का कथन है कि जिस रोगीको जाग्रत अवस्था में प्रभावित करना कठिन है, उसे सुषुप्ता अवस्था में सन्निर्देश देकर प्रभावित किया जा सकता है। इसी प्रकार दुराचारी बालकों के चरित्र का सुधार उसके आस पास के वातावरण को बदलकर किया जा सकता है। अपनी ही किसी प्रकार की बुरी आदत को सोते समय अपने आपको सन्निर्देश देकर सुधारा जा सकता है।

अभी तक संसार के मनोवैज्ञानिवों ने स्वप्न के आतरिक और मन के शक्ति को व्यक्त करने के रहस्य पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला। स्वप्न अपने भीतरी मनको समझने का और उसकी अद्‌भुत शक्ति को जानने का सर्वोत्तम साधन है। मानसिक रोगियों के स्वप्न मानसिक चिकित्सक को रोगी की चिकित्सा का मार्ग स्पष्ट अथवा गुप्त भाषा में बताते हैं। कुशल चिकित्सक इससे लाभ उठाता है। कभी कभी हमें ही अपने स्वप्न से अपने कर्तव्य का अथवा भूले पथ का ज्ञान हो जाता है। काशी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रिंसपल श्री लज्जाशंकर झा ने लेखक को हालही में बताया; कि जिस दिन वे बी० ए० परीक्षा में गणित के परचे में बैठने जा रहे थे, उसकी पहली रात्रि को उन्हें स्वप्न में परीक्षा का पूरा परचा दीख गया। उन्होंने इस परचे का आधा हिस्सा लिख भी लिया था और मित्र की सहायता से उसे हल भी कर लिया था। अपने समीप के सम्बन्धी की मृत्यु की सूचना कभी-कभी स्वप्न में मिल जाती है। परन्तु अपने स्वजनों की मृत्यु प्रायः झूठ होती है। और अपनी मृत्यु के स्वप्न, स्वप्न-द्रष्टा की मृत्यु के भय को दूर करके उसकी आयु बढा देते हैं।

मनोविश्लेषण विज्ञान और कामवासना

आधुनिक मनोविज्ञान की सबसे महत्व की खोज मनोविश्लेषण विज्ञान की खोज है। मनोविश्लेषण विज्ञान के जन्मदाता डा० फ्रायड हैं। इनकी खोजें युगप्रवर्तक सिद्ध हुई हैं। डा० फ्रायड एक योगी चिकित्सक थे। अतएव रोगियों की चिकित्सा करते हुए ही उन्होंने महत्व की मनोवैज्ञानिक खोजें पहले उन लोगों के संबंध में की, जिन्हें किसी प्रकार का मानसिक रोग था, फिर वे उन्हीं खोजों को सामान्य लोगों के व्यवहारों को समझाने के काम मे लाये। इस प्रकार डा० फ्रायड न केवल मानसिक रोगियों के विषय में विशेष प्रकार से संबंध रखते थे, वरन् उनकी खोजों का अधिक महत्व सामान्य लोगों के व्यवहार से संबंधित है। फ्रायड के सिद्धान्त जब स्वस्थ और सामान्य मनोविज्ञान में महत्व रखने लगे, तब उनके सिद्धान्तों को जानना प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति के लिये आवश्यक होगया।

डा० फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य का समस्त जीवन कामवासनामय है। अर्थात् यौनिक है। व्यक्ति के समुचित यौनिक विकास से मनुष्य का व्यक्तित्व स्वस्थ और सामान्य रहता है। जब उसका यौनिक विकास ठीक से नहीं होता तो उसके जीवन में अनेक प्रकार की असाधारणता आती है। यौनिक सिद्धान्त के ऊपर डा० फ्रायड ने मानव व्यवहार की अनेक ऐसी बातें समझाई हैं, जो कि अन्यथा नहीं समझाई जा सकती थीं। विकृत यौन चेष्टायें, समलिंगी यौनिक व्यवहार, नपुंसकता आदि बातें डा० फ्रायड के यौनिक सिद्धान्त के द्वारा मानसिक रोग की अवस्था की सांकेतिक चेष्टायें, जो साधारणत. निरर्थक दिखाई देती हैं, और रोगों के विशेष प्रकार जैसे हठी विचार, हठीक्रिया, हिस्टीरिया, अकारण भय आदि समझाये जा सकते है। फ्रायड महाशय इन सभी प्रकार की असाधारण-ताओं को यौनिक विकास की रुकावट के कारण बताते हैं। यदि मनुष्य का यौनिक विकास ठीक से हो तो न तो उसके व्यवहार में किसी प्रकार की असाधारणता आवे, न उसे विभिन्न प्रकार के मानसिक रोग हों और न वह समाज से अपना समन्वय स्थापित करने में असमर्थ हो।

डा० फ्रायड ने यौनिक विकास की पाँच भिन्न-भिन्न अवस्थायें बताई हैं। इन पाँचों अवस्थाओं मे यौनिक क्रियाओं का उद्देश्य और आश्रय भिन्न-भिन्न होता है। सभी यौनिक क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति होती है। यह सुख विकास की भिन्न अवस्था में शरीर के भिन्न-भिन्न केन्द्रों से और भिन्न-भिन्न क्रियाओं से मिलता है। डा० फ्रायड की बताई हुई यौनिक विकास की ५ अवस्थायें निम्न लिखित हैं।

(१) मुखाश्रित अवस्था (२) पायूस्थाश्रित अवस्था (३) अस्थाश्रित अवस्था (४) अन्तर्हित अवस्था (५) जननाश्रित अवस्था

यौन विकास की पहली अवस्था अर्थात् मुखाश्रित यौनावस्था में बालक यौनिक आनंद मुख से पाता है। इस समय वह माँ का दूध पीता है। इससे एक ओर उसे दूध के रस का सुख मिलता है और दूसरी ओर माँ का स्तन मुँह में देने से उसकी यौनिक वासनायें तृप्त होती हैं। जो बालक माँ का दूध पर्याप्त समय तक पीता रहता उसका मुखाश्रित यौनिक विकास समुचित होता है। इस विकास के उचित रूप से होने से बालक के यौनिक सुख का केन्द्र स्वभावत. मुख न होकर शरीर का दूसरा कोई अंग बन जाता है। और उसका बाह्य आधार भी बदल जाता है। जब बालक की मुखाश्रित यौनिक तृप्ति में बाधा पड़ती है तो बालक का मानसिक विकास रुक जाता-जाता है। और बालक सदा यौनिक सुख का आन्तरिक मन से इच्छुक बना रहता है। वह शरीर से बढता है। परन्तु आन्तरिक मन से छै महीने का बालक बना रहता है। जिन व्यक्तियों का मानसिक विकास इसी अवस्था में रुका रहता है, वे सीजोफ्रेनिया के रोग के भागी होते हैं। सीजोफ्रेनिया मनुष्य को शरीर अथवा मन से प्रौढ होते हुए भी शिशुकाल की इस अवस्था में ले जाता है जिसमें उसके यौनिक सुख का आधार मुख था।

मानसिक विकास की दूसरी अवस्था में मनुष्य के यौनिक सुख का आधार पायूस बन जाता है। इस समय बालक मल त्यागने की क्रिया में विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव करता है। उसे अपने शरीर से त्यागे हुए पदार्थ से भी विशेष ममता रहती है। फ्रायड महाशयके कथनानुसार बालक अपने मलको स्वर्ण समझता है। अतएव वह उसे हाथ में ले लेता है और उससे खेलता है। जिस बालक की यह अवस्था पार होती है वह स्वस्थ और प्रसन्न चित्त वाला व्यक्ति बनता है। जिस बालक की यह अवस्था ठीक से नहीं गुजरती वह मानसिक रोगी और अविकसित रह जाता है। बालक को मल से खेलते समय डाँटने-डपटने से वह मलको त्यागनाही नहीं चाहेगा। इस तरह वह जीवन भर कोष्ट-बद्धता के रोग से पीड़ित रहता है। ऐसे व्यक्ति को त्यागने की प्रवृति होने की अपेक्षा सभी वस्तुओं के संग्रह करने की झख सवार रहती है। ये स्वभाव से कंजूस हो जाते हैं। दूसरे रोग जो इस अवस्था के समुचित रूप से पार करने के कारण पैदा होते हैं, वे हठी विचार अथवा बाह्य क्रिया का रूप लेते हैं। पायूषाश्रित सुख की इच्छा के दमन से बालक हठी हो जाता है। प्रौढ़ होने पर मनुष्य अपनी हठ की व्यर्थता तो समझने लगता है परन्तु अब उसी के मन में विभाजन हो जाता है। उसके मनका एक भाग बड़ा समझदार और न्यायोचित कार्य करने वाला होता

है और उसके मनका दूसरा भाग हठी रहता है। ऐसे लोगों को अनेक प्रकार की झक्कें सवार रहती हैं। वे इन झक्कों को व्यर्थ समझते हैं फिर भी उन्हें छोड़ नहीं सकते। जब माता-पिता अपने बच्चों को बहुत ही साफ रखने की इच्छा से मल छूने कारण अत्यधिक डाँट देते हैं तो वे उसके उपर्युक्त मानसिक रोगों की तैयारी कर देते हैं।

मानसिक विकास की तीसरी अवस्था उपस्थाश्रित अवस्था अथवा जननेन्द्रियावस्था है। इस अवस्था मे बालक को अपने जननेन्द्रिय के विषय से विशेष रुचि हो जाती है। वह उसे अपने हाथ से छूता, उसका अनेक प्रकार से निरीक्षण करता और दूसरों को उसे दिखाना चाहता है। वह दूसरे व्यक्ति के भी जननेन्द्रिय देखना चाहता है। इस अवस्था की इच्छा का दमन होने पर व्यक्ति में अपने आपको हर समय दूसरे के समक्ष प्रदर्शन करने की इच्छा बनी रहती है। इसी के कारण लोग नागा बन जाते हैं। बालक को जब जननेन्द्रिय दिखाने के लिये अत्यधिक डराया जाता है तो उसे बधिया किये जाने का भय उत्पन्न हो जाता है। बालक को इस प्रकार का भय अपने पिता से अधिक होता है। इसके कारण पिता पुत्र मे स्थायी भय और शत्रुता का भाव उत्पन्न हो जाता है। पिता बालक की यौनिक चेष्टाओं से जब उसे अनेक प्रकार से रोकना चाहता है, तब बालक पिता की इस चेष्टा को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। इस समय बालक अपनी माँ को अत्यधिक प्यार करता है। वह रात के समय उसी के पास सोना चाहता है। जब बालक को पिता सोते समय हटाकर अलग विस्तर पर कर देते हैं, तो बालक को इसका ज्ञान हो जाता है, तो बालक की माँ के पास सोने की इच्छा भयानक रूप धारण कर लेती है। बालक पिता को एक शैतान या राक्षस के रूप में मानने लगता है। यह पिता के प्रति शत्रुता का भाव बालक के चेतन मनमें उस समय भी रहता है, जब बालक बौद्धिक और शारीरिक प्रौढता प्राप्त कर लेता है। अचेतन में पिताके प्रति शत्रुता का भाव रहने पर बालक में अनिश्चयात्मक मनोवृत्ति बढ़ती है। इसके कारण उसे भूत का भय, साँप का भय तथा अनेक प्रकार के अकारण भय होते हैं। उसे भयानक स्वप्न भी होते हैं। ये स्वप्न बचपन से ही प्रारंभ हो जाते हैं। नपुंसक बनाये जाने अथवा बधिया किये जाने का भय कभी-कभी बालक मे मानसिक नपुंसकता उत्पन्न कर देता है। जब नौकर-चाकर बालक से मजाक करते हुए उसकी जननेन्द्रिय काट लेने का भय दिखाते हैं तो उसे एक प्रकार का मूर्च्छा रोग हो जाता है। जो माता पिता बालक को यौनिक व्यवहार संबंधी जितनी भी शिथिलता दिखाते हैं और जो इसमें अतिक्रमण दिखाते हैं, वे इस अवस्था के पार होने में रुकावट डालते है।

बालक जब इस अवस्था को ठीक से पार नहीं करता है, तो वह ऊपरी मनमें एक प्रकार का बन जाता है और आन्तरिक मन में दूसरे प्रकार का बन जाता।

पिता के द्वारा मिली हुई यौनिक व्यवहार संबंधी शिक्षा बालक में एक ऐसी मानसिक धारणा को उत्पन्न करती है जो बालक के जननेन्द्रिय संबंधी सुख का सदा दमन करती रहती है। यह बालक के आन्तरिक मन में निवास करनेवाला पिता है। जब बालक आयु में बढ जाता है, तब उसे बाहरी पिता का भय नहीं रहता परन्तु अब उसे अपने आन्तरिक मनमें उपस्थित पिता का भय हो जाता है। इसी पिता के भय के कारण बालक को अनेक प्रकार की अकारण चिन्तायें और भय उत्पन्न होते है। इस आन्तरिक पिता को डाक्टर फ्रायडने सुपरईगो अथवा श्रेष्ठ स्वत्व कहा है।

मानसिक विकास की चौथी अवस्था में मनुष्य की काम-चेष्टायें अन्तर्हित हो जाती है। इस अवस्था में बालक काम चेष्टाओं से उदासीन हो जाता है। वह इस समय अपने से भिन्न पदार्थो और वातावरण के बारे में ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यह अवस्था सात वर्ष से १३ वर्ष की अवस्था तक रहती है। इस अवस्था में बालक के मन में किसी प्रकार की मानसिक झंझटें नहीं उत्पन्न होतीं और उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ भी बहुत कुछ अन्तर्हित रहती है। यह अवस्था न तो काम सम्बन्धी सुख के विशेष प्रकार की, आशाओं की अवस्था है और न निराशाओं की।

इस अवस्था के पार होने पर बालक की किशोरावस्था आती है। यह अवस्था जीवन की सच्ची तैयारी की अवस्था की तैयारी है। जीवन की सच्ची तैयारी और यौनिक जिम्मेदारियों की तैयारी एक ही तथ्य के दो नाम हैं। इस अवस्था को जननाश्रित अवस्था कहा गया है। इसका अन्त स्वभावतः यौनिक प्रौढता में होता है। सम्पूर्ण प्रौढ़ता प्राप्त करने के पूर्व इस समय व्यक्ति के जीवन में शैशव से बीती गई तीन अवस्थाओं का फिर से अभिनय करना पड़ता है। यदि शैशवकाल में योनकी पहली तीन अवस्थायें ठीक से व्यतीत हुई हैं, तो बालक के जीवन में किसी विशेष प्रकार की मानसिक अड़चने नहीं उत्पन्न होती अन्यथा जिस प्रकार के यौनिक सुख की इच्छा का दमन हुआ है, वे किशोर बालक के व्यवहार को असाधारणता की ओर ले जाते हैं। इस समय बालक को उचित मानसिक सहायता देकर शैशव काल के दमन के कुपरिणाम से मुक्त किया जा सकता है। यह काम बालक की दमित इच्छाओं के उदात्तीकरण अथवा शोध (Sublimation) के द्वारा है। व्यक्ति के जीवन के विकास में दमित इच्छाओं के शोध अथवा उदात्तीकरण का बड़ा ही महत्व है और किशोर अवस्था

में यह शोध-कार्य अधिक से अधिक हो सकता है। जिन व्यक्तियों को किशोरावस्था में उचित शिक्षा नहीं मिलती, वे अपने शैशव काल की प्रबल प्रवृतियों का शोध न करने के कारण एक प्रकार के मानसिक रोगी बनते हैं।

डा० फ्रायड के अनुसार यौनिक विकास का अंतिम लक्ष्य जीव को प्रजनन की ओर ले जाना है। यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति में व्यक्ति समर्थ होता है तो वह सामान्य और स्वस्थ व्यक्ति बनता है, अन्यथा वह असाधारण और रोगी बन जाता है। यौन-विकास की प्रत्येक अवस्था का उद्देश्य दूसरी आगे की अवस्था के लाने में सहायता देना है। प्रत्येक अवस्था में जीव की शक्तियों का संगठन होता है और यह संगठन धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण प्रजनन - शक्ति में प्रस्फुरित होता है। यदि मानसिक विकास की किसी अवस्था में मनुष्य को उस अवस्था के यौनिक सुख की प्राप्ति में कमी रही, तो व्यक्ति में किसी-न-किसी प्रकार की यौनिक कमी उसकी प्रौढ़ावस्था में भी रह जाती है। वह फिर अपने ऊपरी मन से तो विकसित होता है, परन्तु आंतरिक मनसे बच्चा बना रहता है। इसलिये अनजाने अथवा इच्छा के प्रतिकूल अनेक प्रकार की निरर्थक चेष्टायें करता है। उसमें चित्त की एकाग्रता की कमी रहती है, और वह जीवन की सामान्य जिम्मेदारियों का वहन ठीक से नहीं कर पाता। जीवन की सभी प्रकार की जिम्मेदारियों में सफल होने की क्षमता प्राप्त करने के लिये मनुष्य का समुचित यौनिक विकास होना तथा प्रौढ़ावस्था में योग्य प्रजनन की क्षमता प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है।

डा० फ्रायड ने मनुष्य के विशेष प्रकार के चरित्र और रुचियों का आधार भी यौनिक विकास पर आश्रित किया है। मानसिक रोगियों में तीन प्रकार के चरित्र वाले लोग पाये जाते हैं। मुखाश्रित चरित्रधारी, पायूपाश्रित चरित्रधारी और उपस्थाश्रित चरित्रधारी। इस प्रकार के चरित्र का निर्माण बाल्यावस्था में विशेष प्रकार के यौनिक सुख के दमन के कारण होता है। यह दमन सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी होता है; पर यह इतना अधिक नहीं होता कि विशेष प्रकार का चरित्र ही इस दमन का कारण बन जाय। हाँ, कुछ प्रवृतियों की जड़ उक्त विशेष प्रकार के चरित्र में अवश्य पायी जाती है। इस तरह निरर्थक बकवास करनेवाले लोगों में मुखाश्रित यौनिक प्रवृति दमित अवस्था में रहती है। हठी, कंजूस, झक्की आदि लोगों में पायूपाश्रित चरित्र की प्रवृत्ति रहती है। प्रदर्शन, अभिनय और सजधज में रुचि रखनेवाले लोगों में उपस्थाश्रित प्रवृति दमित अवस्था में रहती है। ऐसे लोग उपस्थाश्रित चरित्र के कहे जाते हैं।

इस प्रकार डा० फ्रायड ने मनुष्यों के चरित्र का वर्गीकरण यौन-संबंधी सुख की इच्छाओं के आधार पर कर दिया है। समाज में अनेक प्रकार के चरित्र के लोग

पाये जाते है। फ्रायड ने इन लोगों का वर्गीकरण नये प्रकार से कर दिया है। समाज की विभिन्न प्रकार की हलचलों का कारण डा० फ्रायड मनुष्यों के व्यक्तित्वके विशेष प्रकार की बनावट में देखते है, और यह व्यक्तित्व की बनावट उनके कथनानुसार मनुष्य के विशेष प्रकार के यौनिक अनुभव और यौनिक सुख में निराशा के ऊपर निर्भर है। इसी से मनुष्य में अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है, जो बाह्य जगत में प्रकाशित होने पर अनेक प्रकार के सामाजिक द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। आन्तरिक मन में असन्तुष्ट व्यक्ति जिस समाज का निर्माण करते हैं, वह भी आन्तरिक असन्तोष से व्याप्त रहता है। इस प्रकार का आन्तरिक असन्तोष मनुष्य के उचित यौनिक विकास में बाधाओं के कारण उत्पन्न होता है। मनुष्य का सामाजीकरण तथा उसका एक दूसरे से विशेष प्रकार का संबंध भी उसके विशेष प्रकार की यौनिक प्रेरणाओं के कारण होता है।

फ्रायड महाशय का यौन-संबधी उक्त सिद्धान्त उनकी मनोविश्लेषण-पद्धति का आधार है। अब मनोविश्लेषण में बतायी गयी अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं की व्यापकता समाज की अनेक तरह की हलचलों में देखी जाने लगी है। इसके कारण संसार के सभी चिन्तकों का ध्यान फ्रायड की शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ है; और इसके परिणाम स्वरूप संसार में जितने ही उनके मत के अनुयायी लोग हैं, उतनी ही संख्या में त्रुटि बतानेवाले विद्वान उपस्थित हो गये हैं। फ्रायड के सिद्धान्तों की त्रुटियाँ निम्न लिखित हैं।

(१) जो सिद्धान्त मानसिक रोगियों के व्यवहार को समझाने के लिये पर्याप्त है, उसका उपयोग सामान्य मनुष्य के व्यवहारों को समझाने में करना उसका अनावश्यक प्रसार है। यह अनधिकार चेष्टा है।

(२) मनुष्य के जीवन के विकास के अंतिम लक्ष्य को प्रजनन मान लेना मानव जीवन की विशेषता को ही समाप्त कर देना। यदि मानव-जाति के विकास का लक्ष्य संतानोत्पत्ति मात्र ही है, तो वह अन्य प्राणियों से किस प्रकार भिन्न है।

(३) डा० फ्रायड ने मनुष्य के सभी प्रकार की चेष्टाओं का प्रेरक काम वासना को माना है। उन्होंने प्रेम और काम वासना का एकत्व कर दिया है। यह भी दोष युक्त सिद्धान्त है।

(४) डा० फ्रायड ने वासना का नियंत्रक वातावरण जन्य संस्कारको बताया है। नैतिकता का अधार समाज का भय है। परन्तु यह नैनिकता को अनैतिक बनाना है। नैतिकता की भित्ति यदि अन्तः-प्रेरणा नहीं है तो वह नैतिकता घोर अनैतिकता है।

अप्रिय और भयावने स्वप्न क्यों होते हैं?

स्वप्न मनुष्य के मन की आन्तरिक स्थिति का द्योतक है। जिस मनुष्य को मधुर स्वप्न होते हैं उसका आन्तरिक मन सरल और सुन्दर होता है; और जिस व्यक्ति को भयावने स्वप्न होते हैं, गन्दगी अथवा पीड़ा से पीड़ित स्वप्न होते हैं; उसके आन्तरिक मन में अशान्ति और क्लेश रहता है। स्वप्न के द्वारा मनुष्य को जितना आत्म-ज्ञान हो सकता है, उतना और किसी प्रकार से नहीं हो सकता। स्वप्न वह कुंजी है, जिसके-द्वारा मानसिक चिकित्सक किसी भी व्यक्ति के अन्तर्मन तक पहुँचता है, और उसे जानकर उसको परिवर्तित करने की चेष्टा करता है। मानसिक चिकित्सा का कोई भी ठोस कार्य रोगी के स्वप्न के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

सभी प्रकार के रोगियों के स्वप्न अप्रिय होते हैं। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में स्वप्न भयावने भी होने लगते हैं। जब शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ रहता है, तब रोगी को प्रायः डरावने स्वप्न होते हैं। कभी-कभी डरावने स्वप्न इस बात के प्रतीक होते हैं, कि व्यक्ति का मानसिक रोग ही वास्तविक है; और शारीरिक रोग उसका लक्षण मात्र है। परन्तु शारीरिक विकार भी मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं, और वे भयावने स्वप्न का कारण बन जाते हैं। शरीर और मनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण एक के विकृत होने का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है।

अभी हाल की बात है, कि काशी विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी मनोविज्ञानशालाके उसी कमरे में सो रहा था जिसमें मैं सो रहा था। इस विद्यार्थी का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं था। सोते समय उसने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा। वह स्वप्न में डर के मारे चिल्ला रहा था। लेखक ने उठकर उसे जगाया। लेखक के उठाते ही उसकी आँखें खुल गईं और उसने समझा कि उसके छात्रावास के कमरे में, जिसे वह बन्द करके सोया था, कोई भूत-प्रेत सींकचे से होकर घुस आया है, और छुरे से उसे मार डालना चाहता है। वह बड़े जोर से चिल्ला कर बेहोश हो गया। बड़ी कठिनाई से उसे होश में लाया गया। दूसरे दिन भी उसे एक भयानक स्वप्न हुआ। दोनों दिनों के स्वप्नों में उसने देखा, कि कोई व्यक्ति उसको मार डालना चाहता है। दूसरे दिन के स्वप्न में बलात्कार किये जाने का दृश्य था।

कभी-कभी हम अपने आपको गाड़ी में जाते हुए पाते हैं, और रेल की दुर्घटना का स्वप्न देखते हैं। कभी इस दुर्घटना से हम बच जाते हैं, और कभी हम उससे क्षतिग्रस्त होते हैं। कभी रेल की दुर्घटना को देखते हैं, स्वयं रेल में नहीं रहते।

अभी हाल में एक व्यक्ति ने तालाब में तैरने की अपनी स्थिति का स्वप्न देखा। तालाब के आस-पास ऊँची-ऊँची दीवारें थीं, तैरने वाले व्यक्ति को दूसरी ओर से दो भैंसे मारने के लिये आ रहे थे। तालाब के किनारे पर खड़े हुए लोग उसे उन भैंसों से बचने के लिये प्रोत्साहित तो कर रहे थे, परन्तु वे स्वयं कोई सहायता नहीं दे रहे थे। रोगी बड़ी ही भयभीत मानसिक अवस्था में था। इसी बीच उसकी नींद टूट गई।

एक दूसरे रोगी ने हाल ही में स्वप्न देखा, कि उसका एक पुराना मित्र उसे पीट रहा है। उसके और संबंधी उसके पास में ही हैं। वह उनसे मदद माँगने के लिये चिल्लाता है, परन्तु मुँह से आवाज ही नहीं निकलती और उसके संबंधी उसे पीटे जाते देखते हैं, पर उसे बचाते नहीं। मित्र उसे सम्भवतः किसी अनैतिक कार्य के लिये, जिसे वह भूल चुका है, पीटता है। कितने ही किशोर बालक किसी बलवान शत्रु द्वारा पीछा किये जाने का स्वप्न देखा करते हैं। वे जगह-जगह भाग कर जाते हैं, परन्तु शत्रु उनका पीछा नहीं छोड़ते। किशोर बालकों-द्वारा मोटे-मोटे साँपो द्वारा घिरे जाने और काटे जाने के स्वप्नों का देखा जाना साधारण सी बात है। एक रोगी अपने एक मरे हुए मित्र का स्वप्न देखता है। इस मित्र ने अन्तिम घड़ी में उसे बुलाया था, और उससे केला लाकर खिलाने को कहा था। जब वह केवल दो ही केले खा पाया था, और जब यह व्यक्ति थोड़ी देर के लिये कमरे से बाहर गया था, तभी उसकी मृत्यु हो गई। उस मित्र को क्षय रोग हुआ था। अतएव उसकी मृत्यु का स्मरण भी इसे अप्रिय लगता है। फिर उस मित्र के कहने से इस व्यक्ति ने अपने एक नजदीक सम्बन्धी की स्त्री से व्यभिचार किया था। इस अनैतिक घटना से मित्र का संबंध रहने के कारण वह उसे भुला देना चाहता है; परन्तु मित्र की स्मृति मस्तिष्क से नहीं जाती। उसका मित्र स्वप्न में अनेक रूपसे दिखाई देता रहता है। यह व्यक्ति जब स्वप्न में उस मित्र को देखता है, तब भी डरता है, और जागने पर भी डरता है। स्वप्न में उसे ज्ञात होता है, कि यह मित्र मर चुका है और संभवतः प्रेत बनकर आया है।

उपर्युक्त अनेक प्रकार के अप्रिय तथा भयावने स्वप्न केवल मनुष्य की पुरानी स्मृतियों को ही नहीं दुहराते, और न केवल शारीरिक अस्वास्थ्य तथा विशेष प्रकार के अनुभव के कारण उत्पन्न होते हैं, बल्कि इनका उद्देश्य कुछ और होता है। मनुष्य को भयावने स्वप्न तभी होते हैं, जब उसकी कोई प्रबल प्राकृतिक अथवा नैतिक प्रवृत्ति का दमन होता है, और वह प्रवृत्ति इस दमन के लिये व्यक्ति से बदला लेना चाहती है। जिन व्यक्तियों का जीवन एकांगी होता है, जो अपने

जीवन में अत्यधिक कठोरता को व्यवहार में लाते हैं, जो व्यक्ति काम वासना के किसी भी प्रतीक को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जिनके जीवन में माधुर्य-भाव की कमी रहती है, ऐसे व्यक्ति ही भयावने स्वप्न देखते हैं। उपर्युक्त सभी भयावने स्वप्नों में काम-वासना के प्रति शत्रुता का भाव पाया जाता है। साँप, भालू, बन्दर, भैंसा, साँड़, अस्त्र लिये हुए व्यक्ति द्वारा पीछा किया जाना अथवा त्रसित किया जाना, काम वासना द्वारा त्रसित किये जाने का प्रतीक है। ऊपर से नीचे गिरने का स्वप्न नैतिक पतन के भय का द्योतक है। गाड़ी की दुर्घटना का स्वप्न आन्तरिक मन के इस भय का द्योतक है, कि कहीं जीवन में कोई दुर्घटना न हो जाय। इस प्रकार के स्वप्न मनुष्य के दमित भय का रेचन करते हैं। काम-वासना के प्रतीकों के स्वप्न काम वासना के भय को कम कर देते हैं। सभी प्रकार के भयावने स्वप्न मानव जीवन के लिये बड़े उपयोगी होते हैं। भयावने स्वप्न देखने से मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित भय के भाव का रेचन हो जाता है। इस भाव के रेचन हो जाने से मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थिति का सामना धैर्य-पूर्वक करने में समर्थ होता है। कभी-कभी भयावने स्वप्न मनुष्य को आने वाली दुर्घटनाओं के प्रति आगाह कर देते हैं। यदि मनुष्य अपने भयावने स्वप्नों को जानकर अपने आपको सुधारने की चेष्टा करे, तो उसके जीवन में ऐसी आपत्तियाँ न आवें जो अन्यथा आती हैं।

कभी-कभी मनुष्य भूत पिशाच के स्वप्न देखता है। इस प्रकार के स्वप्न अपनी किसी प्रबल इच्छा के दमन के परिणाम स्वरूप होते हैं। यह इच्छा प्रायः अनैतिक अथवा व्यभिचार की होती है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार बलात्कार किये जाने का स्वप्न वास्तव में काम-वासना की अतृप्ति का द्योतक है। मनुष्य की अनैतिक इच्छा जब अपनी तृप्ति का नैसर्गिक मार्ग नहीं पाती, तो वह विकृत होकर भय का रूप धारण कर लेती है। कामेच्छा दमित होकर बलात्कार का भय बन जाती है, और फिर यह भय अनेक प्रकार के बलात्कार के तथा दूसरे प्रकार के डरावने स्वप्नों की सृष्टि करती है। ये स्वप्न एक ओर तो मनुष्य की आन्तरिक बेचैनी को प्रकाश में लाते हैं, और दूसरी ओर वे उसका अन्त भी करते हैं। यदि प्रबल उत्तेजनाओं के आन्तरिक मन में उपस्थित रहते हुए भी किसी व्यक्ति को डरावने स्वप्न न हों, तो ऐसा व्यक्ति नींद से ही हाथ धो बैठता है। किसी जघन्य पाप के करने के पश्चात् मनुष्य अपनी नींद को खो देता है; और दीर्घ काल तक नींद के खो देने पर मनुष्य का जीना कठिन हो जाता है। इस प्रकार देखने से किसी प्रकार का स्वप्न मनुष्य की निद्रा और स्वास्थ्य का विनाशक नहीं, वरन् उनका रक्षक और सहायक है।

प्रत्येक व्यक्ति दो प्रकार के अप्रिय स्वप्न किसी-न-किसी अवसर पर अवश्य देखता है। एक किसी प्रकार की असफलता का स्वप्न और दूसरे मृत्यु का स्वप्न। विद्यार्थी को परीक्षा में फेल हो जानेके स्वप्न प्रायः होते हैं। स्वयं लेखकने परीक्षा में परसेन्टेज कम हो जानेके कारण उसमें न बैठने का स्वप्न कई बार देखा था। इस प्रकार के स्वप्न स्वयं परीक्षार्थी के लिये बड़े उपयोगी होते है। लेखक का एक शिष्य परीक्षा होने के पूर्व हर समय स्वप्न में परीक्षा में कुछ-का-कुछ लिखने का, परीक्षा भवन में देर से पहुँचने का, अथवा फेल होने का स्वप्न देखता है; परन्तु वह किसी भी परीक्षा में असफल नहीं हुआ। परीक्षा में इस प्रकार के फेल होने के स्वप्न परीक्षा के भय का रेचन करते हैं, और विद्यार्थीको परीक्षा में सफल बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। प्रौढ़ावस्था में परीक्षा में फेल होने के स्वप्न उस समय होते हैं, जब कि मनुष्य किसी संकट में पड़ा रहता है, और उसे अपनी परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर सकने में संदेह रहता है। परीक्षा में फेल होने के स्वप्न इस समय मनुष्य को यह निर्देश देते हैं, कि जिस प्रकार वह पिछली परीक्षाओं में फेल होने से डरता था, परन्तु पास हो गया, उसी प्रकार प्रयत्न करने से वर्तमान परिस्थितियों को भी परास्त कर सकता है। मनुष्य प्रायः उन परीक्षाओं में फेल होने का स्वप्न देखता है, जिनमें वह पास हो चुका है, जिन परीक्षाओं में वह वास्तव में फेल हो चुका रहता है, उनका स्वप्न नहीं देखता। लेखक के एक मित्र एल० एल० बी० परीक्षा में फेल हो गये थे, और एम० ए० की परीक्षा में पास हो गये थे। उन्होंने जिस परीक्षा को पास कर लिया था उसी में बार-बार फेल होने का स्वप्न वे देखते थे, परन्तु जिस परीक्षा में वे वास्तव में फेल हुए थे, उसमें फेल होने का स्वप्न उन्होंने कभी नहीं देखा। इस मित्र को संकट-काल में ही परीक्षा में फेल होने का स्वप्न हुआ करता था।

यह एक पुरानी कहावत है, कि किसी व्यक्ति की मृत्यु का स्वप्न देखने से उसकी आयु बढ़ जाती है। यदि यह स्वप्न प्रतीक रूप से नहीं, वरन् प्रत्यक्ष रूप से हो तो उपर्युक्त कथन बहुत कुछ सत्य है। अपने प्रिय जन की मृत्यु का स्वप्न देखने पर उसकी मृत्यु के विषय दमित भय के भाव का रेचन हो जाता है, और इससे प्रिय-जन की आयु भी बढ़ जाती है। यदि हम किसी व्यक्ति के विषय में भय-युक्त होकर किसी प्रकार का चिन्तन करें और इस भय के भाव को दबाने की चेष्टा करें, तो इससे उस व्यक्ति की हानि होने की सम्भावना रहती है। जिस बात से मनुष्य अत्यधिक डरता है इतना अधिक कि वह डर को भी भुला देना चाहता है, उसके घटित होने की संभावना रहती है। निर्भीकता न केवल अपने स्वास्थ्य को बढ़ाती है, वरन् यदि वह दूसरे के सम्बन्ध में है, तो वह उनके स्वास्थ्य

को भी बढ़ाती है।

अपनी मृत्यु का स्वप्न देखना अपनी आयु को अवश्य ही बढ़ाता है। जिन लोगों को क्षय-रोग हो जाने का भय हो जाता है, वे यदि क्षय-रोग से पीड़ित होकर अपनी मृत्यु का स्वप्न देखें, तो ऐसे स्वप्न से उनकी मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। भय को भुलाने की चेष्टा करने से वह वास्तविकता में परिणत होने लगता है। भय का सामना करना उसे विनष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय है, और भय के नष्ट होने पर वह घटना भी नहीं होती जिसके संबंध में भय रहता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है, कि मनुष्य के भयावने स्वप्न उतने बुरे नहीं है, जितने बुरे उन्हें हम मान लेते हैं। ऐसे स्वप्न मनुष्य की आन्तरिक अशान्ति को समाप्त करते और उसके प्राणों की रक्षा करते हैं। फिर ऐसे स्वप्नों को अपने किसी स्नेही व्यक्ति से कह देना, और अधिक लाभकारी होता है। प्रकृति स्वयं स्वप्न देखनेवाले को इस प्रकार की प्रेरणा देती है। भयानक स्वप्नों को सुननेवाला व्यक्ति उन्हें सुनकर यदि स्वयं भयभीत नहीं होता, तो वह स्वप्न के कहने वाले का अनायास ही अकथनीय लाभ करता है। किसी भी मानसिक रोगी के स्वप्नों को शान्त-भाव से प्रति दिन नियम पूर्वक सुनते-सुनते हम उसे उसके रोग से मुक्त कर सकते हैं। आधुनिक मनोविश्लेषण-चिकित्सा का एक प्रधान अंग रोगी के स्वप्नों को सुनना है। इन स्वप्नों के अर्थ के विषय में संसार के प्रमुख मानसिक चिकित्सकों में बड़े मत-भेद हैं। परन्तु प्रत्येक मानसिक चिकित्सक ने रोगी के स्वप्नों को सहानुभूति पूर्वक सुनना उसके आरोग्य लाभ के लिये उसी प्रकार अनिवार्य माना है, जिस प्रकार उसके बचपन की स्मृतियों को जगाना और जीवन की सभी भावात्मक घटनाओं को सुनना। भयावने स्वप्नों को कहते-कहते ऐसे स्वप्नों की कमी अपने आप ही हो जाती है। अब यदि रोगी के द्वारा प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कराया जाय, तो भयावने स्वप्नों का होना पूर्णतः समाप्त हो जाता है। जब मनुष्य अपनी ही वृत्तियों के प्रति साक्षी-भाव स्थापित कर लेता है, और जब वह संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव का अभ्यास करता है, तो वह आत्म-समन्वय अर्थात् मानसिक एकीकरण प्राप्त कर लेता है। ऐसी अवस्था में भयावने स्वप्न का होना अनावश्यक हो जाता है। जिस मनुष्य के मनमें आत्म-समन्वय है; उसे प्रसन्नता बढ़ानेवाले स्वप्न ही होते है।

क्या स्वप्न रोके जा सकते हैं ?

स्वप्न हमारे अचेतन मन का कार्य है। साधारणतः अचेतन मनकी क्रियाओं पर चेतन मन का कोई हाथ नहीं है। हम जैसा चाहते हैं, वैसा स्वप्न देख नहीं सकते। हमारी जाग्रतावस्था का अनुभव एक प्रकार का होता है, और स्वप्न का अनुभव दूसरे प्रकार का। स्वप्न अपने आप निर्मित होता है। जाग्रतावस्था की चेतना उसके निर्माण में कोई भी कार्य नहीं कर सकती। अब प्रश्न यह है, कि क्या हम स्वप्न-दर्शन को बिलकुल बन्द कर सकते हैं, अथवा अपने दुःखदाई स्वप्नों में परिवर्तन कर सकते हैं; और क्या इस प्रकार के स्वप्नों का निरोध अथवा परिवर्तन हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है, कि स्वप्नों का निरोध किया जा सकता है। जिस प्रकार हम जाग्रतावस्था के विचारों का अभ्यास से निरोध कर लेते हैं, उसी प्रकार स्वप्न-निरोध भी सम्भव है। जाग्रतावस्था के विचारों का निरोध अथवा नियन्त्रण भी उतना सरल कार्य नहीं है, जितना कि मन की क्रियाओं से अनभिज्ञ लोग समझते हैं। हमारे बहुत से विचार ऐसे होते हैं, कि हम जितना ही उन्हें मन में आने से रोकते हैं, वे उतनी ही प्रबलता से आते हैं। मानसिक शुद्धि और अभ्यास के परिणाम-स्वरूप विचारों पर नियन्त्रण अथवा उनका निरोध सम्भव होता है। अभ्यास से स्वप्न-निरोध अथवा नियन्त्रण सम्भव है।

स्वप्न का निरोध आत्म-निर्देश के द्वारा किया जा सकता है। इस तरह अचेतन मन पर आत्म-निर्देश का प्रभाव होता है। इसका अनुभव हम निश्चित समय पर जागने के बारे करते हैं। यदि हम यह निश्चय करके सोएँ, कि हम अमुक समय पर अवश्य जग जायँगे और यदि हमारा संकल्प दृढ़ हो, तो हम अवश्य ही उस समय जग जाते हैं। वास्तव में सभी प्रकार का निर्देश अचेतन मन में काम करता है। जिस तरह निर्देश के द्वारा निश्चित समय पर जागा जा सकता है, उसी तरह निर्देश के द्वारा स्वप्न को रोका भी जा सकता है। कितने ही लोग भयंकर स्वप्न होने के पूर्व जाग जाते हैं। अभ्यास से यह भी सम्भव है कि हम काम-वासना सम्बन्धी स्वप्नों से भी अपना पिंड छुड़ा लें।

किन्तु स्वप्नों के इस प्रकार के निरोध से स्वप्नों का कारण नष्ट नहीं होता। कारण के रहते हुए स्वप्न का होना मानसिक स्वास्थ के लिए लाभ कर नहीं है। स्वप्नों का कारण प्रबल मानसिक उत्तेजना ही होती है। इस उत्तेजना का दमन जाग्रतावस्था में होता रहता है। अतएव यह स्वप्नों के रूप में प्रकट होती है। हमारी अनैतिक इच्छाएँ अपना रूप बदल कर स्वप्नों के रूप में प्रकट होती हैं।

यदि इन इच्छाओं को स्वप्नों के रूप में प्रकट होने दिया जाय, तो वे भयंकर मानसिक उत्पात मचावें। हमारी यह धारणा भ्रमात्मक है, कि स्वप्न नींद को भंग करते हैं। वास्तव में स्वप्न नींद की रक्षा करते हैं। फ्राऊन महाशय का कथन है, कि यदि हमें स्वप्न न हों, तो नींद भी न हो। हमारी प्रबल मानसिक उत्तेजना हमें सदा जाग्रतावस्था में ही बनाये रक्खे। स्वप्न के द्वारा इन उत्तेजनाओं की शक्ति प्रकट होकर कम होती है। इसीलिए नींद का होना संभव होता है। यदि आत्म-निर्देश के द्वारा हम स्वप्नों के निरोध में सफल हो जायँ, तो सम्भव है कि हम निद्रा का उपभोग न कर सकें।

बहुत से लोग कहा करते हैं, कि हमें स्वप्न नहीं होते। इस कथन को हमें सत्य न समझना चाहिए। वास्तव में अनेकों स्वप्नों को हम जागते ही भूल जाते हैं। जो प्रतिबन्धावस्था स्वप्नों के अनेक रूपों के बनने में कारण होती है, वही अवस्था स्वप्नों के अनुभवों को भुलाने का कारण बन जाती हैं। अतएव यदि हम थोड़े दिनों के अभ्यास के पश्चात् यह सोचने लगें, कि हमें कोई स्वप्न नहीं होते, तो हमें अपने को स्वप्न-निरोध में सफल न मान लेना चाहिए। सम्भव है कि हमें स्वप्न होते रहें, किन्तु हमें उनका स्मरण न रहे।

लेखक के एक मित्र को एक बार सीढ़ी से उतरते समय गिरने का स्वप्न हुआ। उसी दिन उनके जीवन में एक भारी घटना घटित हुई। वे एक स्थान पर पीटे गये। उन्हें इस प्रकार के स्वप्नों से बड़ा भारी भय हो गया; इसलिए जब वे सीढ़ी से उतरने का स्वप्न देखते हैं, तब जाग उठते हैं। किन्तु इस प्रकार के स्वप्न उन्हें बार-बार होने लगे हैं। इन स्वप्नों के होते ही उनकी निद्रा भंग होती है। इस मानसिक परिस्थितिका परिणाम यह हुआ, कि उनके लिए निश्चित होकर सोना दुर्लभ हो गया, और अब वे किसी दिन ठीक से नहीं सो सकते हैं। इससे उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। उनकी स्मरण-शक्ति कम हो गई है। वे नगर के उच्चाधिकारी हैं। उन्हें प्रत्येक बात को याद रखने के लिए उन्हें लिख लेना पड़ता है। यदि किसी सभा में कोई निश्चय हुआ, तो उस निश्चय के शब्द उन्हें ठीक-ठीक स्मरण नहीं रहते। उन्हें बार-बार कागजों को देखना पड़ता है। उनके मन में सदा बेचैनी रहती है। उपर्युक्त दृष्टांत से यह स्पष्ट है, कि स्वप्न-निरोध मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर नहीं है। स्वप्न-निरोध होने पर नींद-भंग की अथवा स्मृति के ह्रास होने की संभावना है। इसी तरह अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। स्वप्न-निरोध करने की चेष्टा करना, अपने आपको भुलाने की चेष्टा है। स्वप्न अपने आपको समझने का एक उपाय है। बहुत से संत लोग स्वप्नों में अपने

आपको कामी, विषयी, लोलुप अथवा क्रूर व्यक्ति पाते हैं। उन्हें इन स्वप्नों को देखकर आत्मसुधार करने की चेष्टा करनी चाहिये। ये स्वप्न उनकी आन्तरिक भावनाओं के प्रतीक हैं। जब तक आंतरिक इच्छाओं में परिवर्तन नहीं होता; तब तक अप्रिय स्वप्नों का होना आत्म-ज्ञान के लिए आवश्यक है।

स्वप्नों में परिवर्तन आंतरिक भावनाओं के परिवर्तन के द्वारा हो सकता है। बहुत से दुःखद स्वप्न मैत्री भावना के अभ्यास के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं। मैत्री-भावना एक अभ्यास है। यदि इस अभ्यासको किया जाय,तो दु खदायी स्वप्नों का आना बन्द हो जाय। सोते समय इस प्रकार का अभ्यास विशेष लाभकारी होता है। सोते समय यदि हम अपने आपसे यह कहकर सोएँ, कि हम सभी के मित्र हैं, सबका कल्याण हो, संसार के सभी प्राणी सुखी हों, तो यह भावना थोड़े ही दिनों में दु.खद स्वप्नों का आना बन्द कर दे। इस प्रकार की भावना से मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रतिदिन सोते समय मैत्री-भावना का अभ्यास करने से मनुष्य के आचरण में भी मौलिक परिवर्तन हो जाता है। मैत्री-भावना का अभ्यास जब तक चेतन मन तक ही सीमित रहता है, तब तक उसका स्वप्नों में परिवर्तन करने का कार्य नहीं देखा जाता। जब मैत्री-भावना का अभ्यास आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है, अर्थात् जब हम मैत्री-भावना का अभ्यास दृढ़ विश्वास के साथ करते हैं, तब स्वप्नों पर उसका प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों में मैत्री-भाव की बड़ी महत्ता बताई गई है। मलिन्द राजा के प्रश्न (मलिन्द पन्हा) नामक पुस्तक में निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय है।

कोई चार वर्ष पहिले लेखक को बार-बार हिन्दू-मुसलिम दंगोंके स्वप्न दिखाई देते थे। इन दंगों में लेखक अपने आपको बड़े संकट की अवस्था में पाता था। उन स्वप्नों को लेखक ने, स्वप्नों की चर्चा करते समय, अपने एक विद्यार्थी से कहा। उस विद्यार्थी ने यह बताया कि उसका कारण मुसलमानों के प्रति लेखक की द्वेष-भावना ही थी। उस विद्यार्थी ने मुसलमानों के बहुत से सद्गुणों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित कराया। मैं स्वयं इस बात को स्वीकार करने को राजी नहीं हुआ; कि मैं किसी मुसलमान से घृणा करता हूँ। मेरे विचार कांग्रेसी विचारों से ही अधिक प्रभावित हैं। कांग्रेसवाले देश के कल्याण के लिए हिन्दू-मुसलिम-एकता अनिवार्य मानते हैं। भला कौन कांग्रेसी हिन्दू यह मानने को तैयार होगा, कि उसके हृदय में (चाहे अनजाने ही) मुसलमानों के प्रति द्वेष-भावना है। किन्तु उस विद्यार्थी के कथन का एक विशेष प्रभाव मेरे मन पर पड़ा, और मैंने आत्मनिरीक्षण करना आरम्भ कर दिया। मलिन्द राजा के प्रश्न

में वर्णित मैत्री-भावना से होनेवाले लाभ को लेखक ने कुछ ही दिन पहले पढ़ा था। अब दूसरे प्रयोग का अवसर मिला। लेखक ने मुसलिमलीग-विरोधी बातें करना और सुनना बन्द कर दिया। रात को सोते समय सभी मुसलमानों के प्रति सद्भाव का ध्यान किया करता। श्रीमुहम्मदअली तथा जिन्ना महाशय के दुर्गुणों पर विचार न कर, उनके सद्गुणों का चिंतन करने लगा। एक मुसलमान फकीर, जिसे देखकर अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ मन में आतीं, को कुछ दक्षिणा देना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार के अभ्यास का परिणाम यह हुआ, कि उस समय से हिन्दू-मुसलिम दंगे का कोई भी स्वप्न नहीं दीखा। इतना ही नहीं, अपितु अनेक प्रकार के भयानक अथवा दूसरे प्रकार के दुखद स्वप्नों का होना भी कम हो गया। वास्तव में हम एक को ही अनेक रूपों में देखते हैं। एक मनुष्य के प्रति हमारी दुर्भावना अथवा सद्भावना प्राणिमात्र के प्रति उसी प्रकार की भावना-सी प्रतीत होती है। किसी व्यक्तिविशेष के प्रति मैत्री-भावना के विचार ला, हम विश्व से मैत्री-संबंध स्थापित कर लेते हैं। वास्तव में चेतन और अचेतन मन का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। चेतन मन ही कार्य करने का क्षेत्र है। इसी के द्वारा अचेतन मन की भावना का सुधार हो सकता है। अचेतन मन की ही भावना स्वप्न का कारण है। ये भावनाएँ जैसी होती हैं, स्वप्न भी वैसे ही होते हैं। किन्तु अभ्यास के द्वारा जिस तरह इन भावनाओं को दृढ़ बनाया जाता है, उसी तरह इनमें परिवर्तन भी अभ्यास के द्वारा सम्भव है। यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता। कई दिनों तक अभ्यास करने पर ही हमारे चेतन मन का कोई विचार अचेतन में जाता है, और उसमें परिवर्तन करता है। विश्वास के साथ किया गया कार्य प्रभावशाली होता है। किसी बात में मनुष्य को विश्वास तभी होता है, जब कि अचेतन मन उस बात को ग्रहण करने लगता है। इसके ग्रहण करने से अचेतन मन की भावनाओं में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं।

कल्पना और मानसिक शक्ति

मनुष्य के मन में दूर की बातें जानने, दूर के लोगों को प्रभावित करने, रोगी को आरोग्य प्रदान करने, अपने आप आरोग्य प्राप्त करने तथा भविष्य की बातों को जानने की विलक्षण शक्ति है। यदि हम इस शक्ति का उपयोग कर सकें, तो हमारा जीवन कितना सुखी हो जायगा, यह कहा नहीं जा सकता। इन सभी प्रकार की शक्तियोंका साक्षात्कार कल्पनाके द्वारा किया जा सकता है। चित्त की एकाग्रता से मनुष्य में असाधारण शक्ति आ जाती है। चित्त की यह एकाग्रता कल्पना से प्राप्त होती है।

कल्पना के द्वारा मनुष्य अपनी शारीरिक क्रियाओं को अपने वश में कर लेता है। जिस काम को हम करना चाहते हैं, उसके करने के विषय में हमें तीव्र कल्पना करनी चाहिये। यदि हम काम करने अथवा न करने की भावना को छोड़ कर यह सोचने लगें; कि हम अमुक कार्य कर रहे हैं, तो वह काम अनायास ही हमारे द्वारा होने लगता है। यदि कोई विद्यार्थी अपना पाठ याद करना चाहता है, तो उसे पाठ याद करने के विषय में संकल्प-विकल्प न कर यह कल्पना करनी चाहिये कि वह पाठ याद कर रहा है। वह देखेगा कि वह पाठ याद करने लगा। कोई भी विचार, विरोधी विचार के अभाव में अपने आप ही कार्य में परिणत हो जाता है। यदि किसी कल्पना की विरोधी कल्पना हमारे मन में नहीं रहती तो, वह कल्पना अवश्य ही क्रिया का रूप ले लेती है।

जो विद्यार्थी देश-विदेश की यात्रा करना चाहते हैं, उन्हें अपनी कल्पना को सदा रचनात्मक ही बनाना आवश्यक है। निराशा की कल्पना मन में आने से मनुष्य असफलता की ओर अनायास आता है; और सफलता की भावना मन में लाने से वह सफलता की ओर जाता है। मनुष्य का भौतिक धन उसकी बाहरी सामग्रियों का बना हुआ है; परन्तु उसका आध्यात्मिक धन उसकी कल्पनाओं का है। जो व्यक्ति विश्वास करता है, कि उसका भविष्य उज्ज्वल है; और जो आशावादी कल्पनाओं को सदा मन में लाता है, वह अवश्य ही कुछ चमत्कार कर दिखाता है।

मनुष्य के शरीर पर कल्पना का बड़ा चामत्कारिक प्रभाव पड़ता है। कितने ही लोगों का स्वास्थ्य बिलकुल अच्छा रहता है, परन्तु वे कल्पना करते रहते हैं, कि हमें अमुक प्रकार का रोग हो गया है। अपनी कल्पना के कारण वे उस रोग से परेशान हो जाते हैं। लेखक के एक मित्र को भ्रम था, कि उन्हें पेट का रोग है। वास्तव में उन्हें पेट का कोई भी रोग न था। इसके कारण वे कई

साल तक पेट के रोग की पीड़ा से व्यथित रहे। यदि एक चम्मच भर भी दूध वे पी लेते, तो उन्हें भान पड़ता था कि उनके पेट में वायु बढ़ गई है। कितने ही लोग हृदय के रोग से पीड़ित रहते हैं; जब कि वास्तव में उन्हें कोई रोग नहीं रहता। यदि हम इन लोगों की इस कल्पना को बदलमें समर्थ हो जावें, तो उनके रोगों को नष्ट कर दें।

कुछ लोग किसी मानसिक कमजोरी के कारण अनेक प्रकार के रोगों की कल्पना अपने आप में करते रहते हैं। कुछ लोगों का अचेतन मन रोग का स्वागत करता है। यह स्वागत प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ जाने के कारण अथवा किसी पाप के प्रायश्चित के रूप में किया जाता है। ऐसे लोगों को ये रोग हो जाते हैं। मनुष्य के चेतन मन के विचार उसके अचेतन मन में चले जाते हैं, तो वे अवश्य ही कल्पना के अनुसार अपना प्रभाव दिखाते हैं। जिस मनुष्य की कल्पना उसके विचार के नियन्त्रण में नहीं है, वह अवश्य ही दु ख का भागी होता है। सुख की लालसा रखने का सब से भयानक परिणाम यही है, कि मनुष्य का मन दुर्बल हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अनेक प्रकार की भयावनी कल्पनायें अपने मन में लाता है। इन कल्पनाओं के अनुसार फिर वह दुःख भी भोगने लगता है।

कल्पना के द्वारा मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक रोगों को नष्ट कर सकता है। कल्पना-द्वारा रोगी अपनी चिकित्सा कर सकता है। चिकित्सक भी रोगी की कल्पना में परिवर्तन करके उसे आरोग्य प्रदान कर सकता है। कल्पना के/द्वारा दूसरे व्यक्ति के विचार जाने जा सकते हैं। कल्पना के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मनमें, बिना वाणी से प्रकाशित किये ही, अपने विचारों को भेज सकता है। वह दूर के लोगों को भी तीव्र कल्पना के द्वारा प्रभावित कर सकता है। जिस प्रकार हम अपनी कल्पना के द्वारा किसी व्यक्ति की हानि कर सकते हैं, उसी प्रकार हम उसका लाभ भी कर सकते हैं। जो व्यक्ति अपनी कल्पना के बलमें जितना ही अधिक विश्वास करता है, वह उसे उतना ही कृतकार्य बनाने में सफल होता है।

आत्म-निर्देश-द्वारा मानसिक और शारीरिक रोगों की चिकित्सा में कल्पना ही कार्य करती है। कल्पना-द्वारा हम अपनी उन आदतों को बदल सकते हैं, जो इच्छा-शक्ति के द्वारा नहीं बदली जा सकती। इस प्रसंग में डाक्टर ब्राऊन का अपना उदाहरण उल्लेखनीय है। डाक्टर ब्राऊन को सिगरेट पीने की बड़ी जटिल आदत थी। वह इस आदत को छोड़ देना चाहते थे; परन्तु प्रयत्न करने पर भी वे उसे छोड़ नहीं पाते थे। जब कभी वे इस आदत को प्रयत्न-पूर्वक छोड़ते, तो उन्हें मानसिक बेचैनी हो जाती। अतएव उन्हें फिर से सिगरेट पीना

प्रारंभ करना पड़ता था। परन्तु एक ही बार के आत्म-निर्देश ने उन्हें इस आदत से मुक्त कर दिया। मन के शैथिली-करण की अवस्था में मनुष्य जो कुछ कल्पनायें अपने मनमें लाता है, वह उसी के अनुसार बनने लग जाता है।

हेल फील्ड महाशय ने भी कल्पना-द्वारा आदतों के सुधार का एक अच्छा उदाहरण दिया है। उनके एक मानसिक रोगी को नशा-खोरी की आदत थी। इसके रोकने का वह बहुत उपाय करता था। वह अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही कोकीन बेचनेवाले की दूकान पर जाता, और उसे खरीद लेता। उससे इस कल्पना का अभ्यास कराया जाता, कि वह कोकीन की दूकान जाते समय उसे भूल जाता है। यह अभ्यास इतना दृढ़ हो गया, कि जब पीछे उसे दवाई के लिये भी इस दूकान पर जाना पड़ता, तो वह उसे भूल जाता था।

जो व्यक्ति अपने आपको सफल वक्ता के रूप में कल्पित करते हैं, वास्तव में वे सफल वक्ता हो भी जाते हैं, और जो कल्पना में अपने आपको विफल के रूप में चित्रित करते हैं, वे सभा में बोलते समय लड़खड़ा जाते हैं। मनुष्य अपने आपका जैसा चित्र खींचता है, वह वैसा ही बन जाता है। किसी बुरी आदत को छुड़ाने के लिये अपने आपको उसके बिना चित्रित करना आवश्यक है। इसी प्रकार किसी नई आदत को डालने के लिये उसकी कल्पना करना नितांत आवश्यक है। प्रति-दिन की कल्पना स्वयं एक मानसिक शक्ति बन जाती है, और यह शक्ति अपने आप चरितार्थ होने लगती है।

कल्पना के द्वारा अपने शारीरिक रोग अच्छे किये जा सकते हैं। यदि हमें पेट की अथवा आँखों की पीड़ा हो रही है, और यदि हम सजीव कल्पना में इन रोगों के जाने की भावना मनमें लावें, तो वे रोग चले जाते हैं। एक बार लेखक के मित्र डा० आँटो उल्फ महाशय की डाढ़ में पीड़ा हो रही थी। यह पीड़ा कई दिनों तक रही। परन्तु एक दिन उन्होंने कल्पना की, कि उनकी पीड़ा अब नहीं ठहरेगी। उन्होंने तीन बार अपना हाथ मुँह एवं दाढ़ के ऊपर फेरा, मानो वे रोग को निकाल कर फेंक रहे हों। ऐसा करने पर उनकी पीड़ा सदा के लिये जाती रही। इसी प्रकार उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी की सिर-पीड़ा को भी उसके ऊपर हाथ फेर कर ठीक कर दिया। अपने दाँत और पेट की पीड़ा को कल्पना की सहायता से ठीक करने का लेखक को भी पर्याप्त अनुभव है।

एकाग्र चित्त होकर तथा हाथ फेर कर रोगियों को आरोग्य प्रदान करने का अवसर कई मानसिक चिकित्सकों को पड़ता है। फ्रांस के इमील कूये महाशय इसी प्रकार रोगियों की चिकित्सा करते थे। सिर की पीड़ा, पेट की पीड़ा, आँखों की पीड़ा और मलेरिया ज्वर को कल्पना की सहायता से नष्ट किया जा सकता है। इस

प्रकार के रोगों के उपचार करने का कुछ अनुभव स्वयं लेखक को भी है। यहाँ चिकित्सक एकाग्र चित्त होकर रोगी को अनेक प्रकार की दुष्कल्पनाओं से मुक्ति दिला, उससे अपनी कल्पना के अनुसार चिन्तन कराता है। विरोधी कल्पनाओं के अभाव में रोगी का रोग अवश्य ही चला जाता है। इस तरह प्रत्येक आशा-वादी व्यक्ति रोगी को आशावादी बनाकर, उसे आरोग्य लाभ करने में अनायास सहायता दे देता है। रोगी को उतना ही अधिक लाभ होता है, जितना वह इस प्रकार के चिकित्सक के प्रति श्रद्धा रखता है, और उसे प्यार करता है। चिकित्सक स्वयं प्यार के द्वारा ही रोगी के विचारों में परिवर्तन करके उसे आरोग्य प्रदान करता है। रोगी भीतर से अपने आपको घृणा करता है। वह अपने आस-पास घृणा से भरे स्वार्थी लोगों को ही देखता है। जब रोगी को एक भी सच्चा व्यक्ति दिखाई दे देता है, और वह उसे प्यार करने लगता है, तो उसकी कल्पनाओं में चामत्कारिक परिवर्तन हो जाता है। घृणा की कल्पनायें ध्वंस-कारी होती हैं, और प्रेम की कल्पनायें रचनात्मक। घृणा के भावों के उदित होने पर मनुष्य सिर्फ दूसरों को ही नहीं, बल्कि अपने को भी नष्ट कर देना चाहता है। परन्तु दूसरे के प्रति अनुभव किया गया प्रेम आत्म-प्रेम और भद्र कल्पनाओं का रूप ले लेता है।

कल्पना-द्वारा दूसरों को आरोग्य-प्रदान करने का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता है, तैसे-तैसे चिकित्सक के आरोग्य-प्रदान करने की शक्ति और भी बढ़ जाती है। अपनी कल्पनाओं में हम अपने को जिस शक्ति से सम्पन्न समझते हैं, वह शक्ति यथार्थ ही हममें आ जाती है। यह शक्ति मनुष्य के चेतन मन की वस्तु नहीं है। यह उसके अचेतन मन की शक्ति है। कल्पना के द्वारा मनुष्य अपने आपको दूसरे मनुष्यों के गुप्त विचारों को जाननेवाला बना सकता है। कल्पना से दूर के व्यक्ति को प्रभावित किया जा सकता है। डा० आटो उल्फ महाशय अपने बचपन में ही अपनी माँ को, घर के बाहर खड़े-खड़े, कल्पना की सहायता से जगाते थे, और माँ बिस्तर से उठकर बच्चे को बाहर से ले जाती थी। जब कभी देर तक रात में वे बाहर रह जाते, और पिता के डर के मारे नहीं चिल्लाते थे, तो वे कल्पना करते थे कि वे वायु के साथ किवाड़ों की दरार में से भीतर चले गये, और सीढियों से धीरे-धीरे चढ़ कर माँ के कमरे के सामने खड़े हो गये हैं। फिर धीरे-धीरे माँ को पुकारने की कल्पना वे करते। इस प्रकार माँ जाग जाती और अपने कमरे से बाहर निकल कर और नीचे आकर बच्चे को बाहर के बरंडे में खड़ा देखती; और उसे ले जाती।

जिन प्रिय जनों को दुःख के समय हम याद करते हैं, वे भी हमारी याद करने लग जाते है। मरते समय की कल्पनायें पुत्र तक अनायास पहुँच जाती हैं,

और कभी जाग्रतावस्था में और कभी स्वप्न में वे जैसी-की-तैसी चित्रित हो जाती हैं। कभी-कभी अपने दिवा-स्वप्न में भी हम कुछ ऐसी बातों को देख लेते हैं, जिनका साधारण तरह से ज्ञान होना संभव नहीं। अब यदि हम जान-बूझ कर कल्पना करें, कि धीरे-धीरे हम में दूसरे लोगों के विचारों को प्रभावित करने की शक्ति आ रही है, अथवा हम दूर के लोगों को अपने विचारों से प्रभावित करने की शक्ति पा रहे हैं, तो वह शक्ति हम में आ जाती है।

किसी भी प्रकार की मानसिक शक्ति उसके सदुपयोग से बढ़ती है, और वह दुरुपयोग से नष्ट हो जाती है। जो मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति को जितना दूसरे लोगों की सेवा में खर्च करता है, वह उतना ही अधिक शक्ति-शाली होता जाता है। उसके मनमें भद्र कल्पनाये हो आती हैं, और वह अपनी मानसिक शक्ति में अविश्वास नहीं करता। अतएव उसकी शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है।

जीवन-पहेली

संसार के विचारवान् लोगों में दो प्रकार के जीवन-दर्शन का प्रचलन है एक प्रवृत्तिवादी है और दूसरा निवृत्तिवादी। पश्चिम में अधिकतर प्रवृत्तिवादी दर्शन को श्रेष्ठता दी गई है। इसी दर्शन के परिणाम-स्वरूप पाश्चात्य दर्शन की भौतिक उन्नति हुई। इंगलैंड का इन्डीवीजुलिज्म, अमेरिका का प्रगमेटिज्म और रूस का कम्युनिज्म प्रवृत्तिवादी विचार-धाराओं के परिणाम हैं।

प्रवृत्तिवादी दर्शन से आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति और अर्थशास्त्रीय विचार की वृद्धि हुई है। अर्थशास्त्र का कथन है कि मनुष्य की उन्नति उसकी इच्छाओं की वृद्धि से होती है। मनुष्य की इच्छाओं की जबतक वृद्धि नहीं होगी तबतक वह अनेक प्रकार की वस्तुओं को प्राप्ति करने की चेष्टा न करेगा और जब उसमें अनेक प्रकार की वस्तुओं के प्राप्त की प्रेरणा न होगी, तो सभ्यता का विकास एवं समाज की उन्नति न होगी। अतएव जिस राष्ट्र के लोगों में जितनी ही अधिक इच्छाओं की वृद्धि होती है, वह सभ्यता एवं सामाजिक सङ्गठन में उतना ही अधिक प्रगतिशील होता है। इस प्रकार की विचारधारा को हम भौतिक-वाद कहते हैं।

भौतिकवादी लोग इस जीवन के सुख-सन्तोष का ही अधिक ध्यान रखते हैं। इस जीवन के बाद के जीवन का चिन्तन करना अथवा उसकी कल्पना करना व्यर्थ ही नहीं, अपितु मनुष्य के प्रगति के लिए हानिकारक समझा जाता है। मरने के बाद क्या होता है, इस बात का ज्ञान वैज्ञानिक ढङ्ग से किसी को नहीं हो सकता। किन्तु जो कल्पनाएँ जीवन के बाद की बातें जानने की इच्छा से अभिप्रेत होकर की जाती हैं, वे मनुष्य को अन्धविश्वासी बना देती हैं। अनेक प्रकार के धर्मों का आधार मरण के बाद के विषय में चिन्तन करने की मनुष्य की इच्छा है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक सोपेनहावर का कथन है कि मृत्यु का विचार ही दर्शन का प्रारम्भ है। भारतीय संस्कृति में भी देखा गया है कि किसी भी गम्भीर दर्शन के प्रारम्भ में वैराग्य-भावना का होना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। नचिकेता ने ब्रह्म-विद्या यमराज से जानी, अर्थात् मनुष्य को गम्भीर दार्शनिक विचार तभी आया, जब मृत्यु की कल्पना उसके सामने आ खड़ी हुई।

जो मनुष्य इस जीवन की अनेक क्रियाओ मे ऐसे लगे हुए हैं कि उन्हें मृत्यु का विचार कभी आता ही नहीं उन्हें किसी दर्शन की आवश्यकता ही क्या। ऐसे लोगों को किसी धर्म की भी आवश्यकता नहीं होती। मजहब (धर्म) सामान्य लोगो का दर्शन है।

किसी भी प्रकार की धार्मिक विचार-धारा मनुष्य का कल्याण इच्छाओं की वृद्धि में ही नहीं बल्कि उसकी समाप्ति में देखते हैं। अर्थ (धन-दौलत) की वृद्धि, जो इच्छाओं की वृद्धि का ही परिणाम है, अनर्थ का हेतु है। जो मनुष्य अपनी इच्छाओं पर जितना ही नियन्त्रण रख सकता है, वह उतना ही सुखी होता है। भगवान् बुद्ध, कृष्ण और ईसा, तीनों ने ही इच्छाओं की कमी करने मे मनुष्य का कल्याण बताया है। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक स्थल मे इच्छाओं का विनाश जीवन का उच्चतम उद्देश्य बताया गया है। बुद्ध, कृष्ण और ईसा तीनों एशिया के ही महात्मा थे। अतएव यह कहा जा सकता है कि एशिया का प्रमुख विचार इच्छाओं का त्याग और थोड़े मे सन्तोष करने का है।

इस प्रकार की विचार-धारा का एक परिणाम यह हुआ कि इच्छा-वादी लोगों ने जितनी भौतिक उन्नति की उतना इच्छा-त्यागियों ने नहीं की। इसके परिणाम स्वरूप इच्छा त्यागी व्यक्तियों को इच्छावादी लोगों के शासन में रहना पडा और अपने दर्शन को ही उन्हें फिर बदलना पड़ा। उन्हें ज्ञात हुआ कि हमने अपने दर्शन मे कही भूल की है। जबतक इन त्यागी लोगो ने भौतिक दर्शन को नही अपनाया, वे पाश्चात्य लोगो की दासता से मुक्त नही हो सके।

उपर्युक्त ऐतिहासिक तत्व से यह स्पष्ट होता है कि इच्छाओ का त्याग सर्वथा उपादेय नही है। यह बात भी सच है कि इच्छाओ की वृद्धि भी मनुष्य को सुख और शान्ति की ओर नही ले जा रही है। आधुनिक युग के बड़े बडे युद्ध और लोक-सहारी विस्फोटों का आविष्कार इस बात को बतलाता है कि मनुष्य ने यदि अपनी इच्छाओं का नियन्त्रण नहीं किया, तो इस पृथ्वी-पर उसका जीना ही असम्भव हो जाएगा।

ससार मे सभ्य कहलानेवाले राष्ट्रो की जो आधुनिक दार्शनिक विचार-धारा है, किसी तरह भी मनुष्य को चैन नही लेने देती। वह मनुष्य को खा डालेगी। अब प्रश्न यह है कि यदि वासनाओ का दमन किया जाय, तो भौतिक वादियों की दासता स्वीकार करनी पडती है और यदि उनकी पूर्ति की जाय तथा उन्हे स्वच्छन्दता-पूर्वक बढ़ने दिया जाए तो समाज का ही विनाश होता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य को कौन-सा मार्ग अपनाना चाहिये।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) के रूप में दिया है अर्थात् वासनाओं का त्याग एकाएक करने से मनुष्य को न तो परलोक मिलता है, और न यह लोक। उसे तो केवल आत्मग्लानि और आत्म-भर्त्सना की ताडनाएँ ही मिलती हैं। वह अपने आपको अभागा मानने लगता है।

भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को युद्ध छोड करके भागने से इसलिए ही रोका था कि इस प्रकार से वासनाओं का निराकरण नहीं होता है। उन्होंने अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा दी थी। ईशावास्योउपनिषद् मे बताया गया है कि जो लोग अविद्या के उपासक हैं, वे घोर अन्धकार मे जाते हैं; पर जो केवल विद्या में ही रत हैं और भी अन्धकार मे पड़ते हैं; श्रेष्ठ पुरुष वे हैं, जो विद्या और अविद्या दोनो पर विचार करते हैं; जो अविद्या से संसार के क्लेशों से मुक्ति पाते हैं औ विद्या से अमृतपद प्राप्त करते हैं। अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान अविद्या है। दर्शन और धर्म विद्या हैं। अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान की सहायता से मनुष्य इस लोक मे शक्तिशाली और सफल बनता है; परन्तु दर्शन और धर्म से उसे परलोक की प्राप्ति होती है।

इच्छाओं के प्रकाशन से अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान की वृद्धि होती है, और उनके नियंत्रण से दर्शन और धर्म की प्राप्ति होती है। इच्छाओं का अभिव्यजन मनुष्य के जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि उनकी अन्तिम समाप्ति। इच्छाओं की तृप्ति के बिना उनकी समाप्ति नहीं होती।

मनुष्य के जीवन मे अनेक प्रकार की इच्छाएँ जन्म से ही रहती हैं। मनुष्य की प्रारम्भिक इच्छाएँ निम्न कोटि की होती हैं। वे उसके व्यक्तिगत जीवन से एवं उसके सुख से ही परिमित रहती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शिक्षा है कि जबतक मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छाओं की तृप्ति नहीं होती, तब तक उसमे उच्चकोटि की इच्छाओं का प्रादुर्भाव नहीं होता, अर्थात् जब तक मनुष्य की वैयक्तिक स्वार्थ की इच्छाओं की तृप्ति नहीं होती, तब तक उसमें समाजकल्याण तथा परोपकारी भावनाओं का उदय नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति मे उसकी इच्छाओं का दमन हो जाए और उसे बर-बसी नैतिक एव परोपकारी बनाया जाय, तो वह अपने जीवन में वास्तविक प्रगति न कर, अवनति ही करेगा। ऐसा व्यक्ति या तो दंभी या पाखण्डी बन जाता है, अथवा मानसिक रोगी हो जाता है। दभी और पाखण्डी व्यक्ति नैतिकता का आवरण लेकर अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं की पूर्ति करता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी इन स्वार्थमयी इच्छाओं का ज्ञान तो रहता

है, पर वह उन्हें समाज में बड़े-बड़े आदर्शों का प्रचार कर छिपाता है। मानसिक रोगी ऐसे व्यक्ति से भिन्न होता है। मानसिक रोगी का बाह्य जीवन ऊँचे स्तर का होता है, परन्तु उसका आभ्यन्तरिक-जीवन अत्यन्त ही निम्न-स्तर का होता है; और इसका उसे ज्ञान नहीं रहता है।

मान लीजिए किसी व्यक्ति के आन्तरिक मन में समीपस्थ व्यक्ति से व्यभिचार करने की भावना है। इस भावना को उसका नैतिक मन इतना दबा देता है कि उसके प्रयत्न करने पर भी उसे पता नहीं लगता। यदि इस बात का पता स्वयं उस रोगी को लग जाए, तो वह अपनी इस वासना को जानकर अत्यन्त दुखी होगा।

जिन लोगों के जीवन में अत्यधिक नैतिकता दिखाई देती है, उनके आन्तरिक मन में साधारणतया प्रबल भोगवासनाएँ छिपी रहती हैं। जब ये वासनाएँ किसी प्रकार भी अपने प्रकाशन का मार्ग नहीं पातीं, तो वे व्यक्तित्व-विभाजन की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य एक ओर बड़ा आदर्शवादी बना रहता है और दूसरी ओर उसमें कार्यक्षमता की शून्यता हो जाती है। अपने ही आदर्शों के अनुसार न चलने के कारण उसे भारी आत्म-भर्त्सना होती है जिससे उसकी इच्छा-शक्ति इतनी दुर्बल हो जाती है कि उसे साधारण-सी परिस्थिति ही परीशान कर देती है। उसमें संकटों का सामना करने का साहस ही नहीं रह जाता है।

इस तरह से हम देखते हैं कि जिन लोगों ने इच्छाओं का दमन करने को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है उनकी अपेक्षा इच्छाओं की पूर्ति करनेवाले लोगों की इच्छा-शक्ति अधिक बलवती होती है। वे बाह्य कठिनाइयों का सामना अधिक साहस से कर सकते हैं, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में वैसा विभाजन नहीं रहता जैसा इच्छाओं के दमन करनेवालों में होता है।

यदि किसी सम्पूर्ण राष्ट्र के लोगों की मनोवृत्ति इच्छाओं को दमन करने की हो, तो उस राष्ट्र में मानसिक एकीकरण का अभाव हो जाता है। ऐसे राष्ट्र की राजनीति शिथिल रहती है। एक छोटा-सा राष्ट्र भी ऐसे साधु राष्ट्र से नहीं डरता। त्यागी राष्ट्र की इस प्रकार की साधुता उसके मन में प्रसन्नता न उत्पन्न कर आत्मभर्त्सना और इच्छा-शक्ति की दुर्बलता को ही बढ़ाती है।

वर्तमान काल में भारतवर्ष ने इच्छाओं के दमन का मार्ग अपना लिया है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर इसके आदर्श बड़े ऊँचे हैं और दूसरी ओर उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति दयनीय है। उसके आदर्शों की प्रशंसा सभी करते हैं; परन्तु एक छोटे से छोटा राष्ट्र उसकी राष्ट्रीय भावनाओं को ठुकरा देने में

नहीं हिचकता। इसका कारण यह है कि छोटा राष्ट्र जानता है कि भारतवर्ष के आन्तरिक मनकी जटिलताएँ इतनी गंभीर हैं कि वह कभी दृढ़ निश्चय संसार के किसी छोटे राष्ट्र के विरुद्ध भी नहीं कर सकता।

यूरोप ने जो भूल की है, वह अपनी भोगवासनाओं की छूट दे देने की है। भारत जो भूल कर रहा है, वह अपने अन्तर्मन की वासनाओं को न पहचानने की है। अतएव जहाँ यूरोप उद्दण्ड बालक के समान धसात्मक कार्यों के लिए प्रवृत्त हो गया है, वहाँ भारत मानसिक रोगी बन रहा है। जीवन की यह पहेली दोनों ने ही हल नहीं की।

जीवनपहेली को हल करना उतना सहज नहीं है। जब तक मानव स्वभाव को तथा उसकी आकाक्षाओं और अन्तिम लक्ष्य को भली प्रकार से नही समझा जाता तब तक यह पहेली हल नहीं होगी। इसे हल करने मे हमारे पूर्वजों के विचार सहायक हो सकते हैं, परन्तु उनका वर्तमान परिस्थिति मे प्रयोग करने के ढंग का आविष्कार हमें ही करना पडेगा।

विचार की शक्ति

प्रत्येक मनुष्य चैतन्य अणु है। जड अणु की शक्ति से हम अभी परचित हुए हैं। इसने जगत को विस्मय में डाल दिया है। चैतन्य अणु की शक्ति इससे भी कहीं अधिक है। इसके द्वारा संसार की नई रचना की जा सकती है और उसका विनाश भी किया जा सकता है। यह चैतन्य अणु हमारा विचार ही है। विचार को देश और काल की सीमा नहीं रहती। एक विचार जो उपनिषद् काल मे याज्ञवल्क ऋषि ने अपनी स्त्री मैत्रेय को दिया था आज हमें नया प्रकाश दे रहा है। बुद्ध भगवान ने अपने विचार आज से छब्बीस सौ वर्ष पहले अपने कुछ शिष्यों को दिये थे। वे ही विचार आज ६० करोड व्यक्तियों के जीवन को सचालित कर रहे हैं। सच्चे विचार का नाश नहीं होता। उसका जितना ही अधिक दमन होता है उसका बल उतना ही बढता है। विचार एक प्रकार की मशाल है। यह मशाल दूसरी मशालों को जला देती है। इस प्रकार संसार भर मे एक ही विचार दूर-दूर फैल जाता है। यदि विचार शक्तिवान् है अर्थात् उस विचार के पीछे दृढ़ निश्चय है तो वह विचार अवश्य जीवित रहेगा और यदि उसमे मौलिक शक्ति नहीं है तो कितना ही प्रयत्न उससे बचने का क्यों न किया जाय, नष्ट हो जावेगा।

विचार की शक्ति विचार के लिये तप और त्याग पर निर्भर करती है। जितना ही किसी विचार के लिये तप अथवा त्याग किया जाता है, विचार उतना ही दृढ़ होता है। कार्लमाक्स ने अपने विचार के लिये बीस सालतक अन्वेषण किया तब उसने साम्यवाद का सिद्धान्त संसार के समक्ष रक्खा। इसी प्रकार लूथर ने अपने विचार अनेक प्रकार के त्याग के बाद संसार में फैलाये। जितना ही त्याग उन विचारों के लिये किया जाता था, वे विचार उतने ही पक्के होते जाते थे। भारतवर्ष की स्वतंत्रता का विचार गंभीर अध्ययन के पश्चात् श्री लोकमान्य तिलक ने प्रकाशित किया और उसके लिये पर्याप्त त्याग किया। यही विचार अनेक प्रकार के दमन के बाद भारत की स्वतंत्रता मे परिणत हो गया।

महात्मा गाधी का अहिसा का विचार एक नया विचार है। जहॉ तक इस विचार के लिये त्याग किया गया वहॉ तक वह जीवित रहेगा, पर जहॉ अहिंसा की शरण अपने आप को कष्ट मे डालने से बचाने के लिये की जायगी वह

नष्ट हो जावेगा।-जो विचार किसी विशेष परिस्थिति के लिये होता है उसका जीवन उस परिस्थिति तक ही रहता है।

विचार का प्रचार दो रूप से होता है एक प्रकाशित करके और दूसरे अप्रकाशित रूप से। पत्र-पत्रिकाओं मे लिखकर, व्याख्यानो द्वारा तथा ग्रन्थ बनाकर किसी भी विचार को प्रकाशित किया जा सकता है। छपाई के साधनों के कारण आजकल कोई भी नया विचार ससार मे बडे वेग से फैल जाता है। इस प्रकार जितने जल्दी विचार फैलता है उतने जल्दी उसके जीवन का अन्त भी हो जाता है। जो विचार धीरे-धीरे समाज मे बैठता है वह प्रायः देर तक ठहरता है। कहा जाता है भलाई केंचुआ की गति से आती और बुराई गरुड की गति से। अतएव यदि किसी सद्विचार का प्रचार एकाएक न हो जाय तो हमे उसे व्यर्थ न समझना चाहिये। हमे उसके भविष्य के विषय मे इतना ही जानना आवश्यक है कि इस विचार से ससार का कल्याण कहाँ तक है और उस विचार के पीछे त्याग कितना है। जो विचार ससार का कल्याण करता है उसका जीवन काल भी अधिक होता है। चमत्कार दिखाने वाला विचार मनुष्यों को जल्दी से प्रभावित कर देता है, पर वह गजी की आग के समान तुरत ही भारी प्रकाश देकर शान्त हो जाता है। ठहरनेवाला विचार अपना प्रभाव एका-एक नही दिखाता।

जिस प्रकार विचार प्रचार के भौतिक साधनों के द्वारा संसार के दूसरे लोगों तक पहुँचता है इसी प्रकार वह बिना इन साधनों के भी पहुँचाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह विचार मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा का रूप धारण कर लेता है। किसी निराश व्यक्ति के विचारों को एकाग्रचित्त होकर आशावादी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार गुमराह को एकाग्र चित होकर सच्चा मार्ग दर्शाया जा सकता है। रोगी मनुष्य के मन मे दूर से ही आरोग्य के विचार उत्पन्न किये जा सकते हैं और इन आन्तरिक विचारो के परिणाम स्वरूप उसका रोग नष्ट किया जा सकता है। अनुभव से देखा गया है कि यदि कोई मनुष्य किसी मनुष्य के विषय में रात को उस समय उठकर सोचे जब कि सभी जगत् शान्त रहता और उसे उस समय सद्विचार भेजे तो उक्त व्यक्ति के मन में भी अनुकूल विचार आते हैं। दूसरे के पास कल्याण के विचार भेजने से उस व्यक्ति का कल्याण हो जाता है।

मनुष्य की बीमारी और उसका आरोग्य उसके विचारों पर निर्भर करता है। दूसरे लोग उसके विषय में सोचते हैं वह अपने विषय में भी उसी प्रकार सोचने लगता है। मनुष्य अपना वातावरण अपने

आप उत्पन्न करता है फिर यह वातावरण उसे प्रभावित करने लगता है। साधारणतः रोगी मनुष्य के आन्तरिक विचार भी रोग के ही होते हैं। पर उसके विचारों को बदला जा सकता है। यह तब करना सरल होता है जब रोगी में और हममें हार्दिक एकता है। श्रद्धा के रहने पर एक ओर से दूसरी ओर विचारों का बहाव सरल हो जाता है।

मानसिक उद्विग्नता में विचारों की शक्ति कम हो जाती है। मानसिक उद्विग्नता मानसिक अन्तरद्वन्द्व की स्थिति को दर्शाती है। जब मनुष्य को अपने विचारो की शक्ति में विश्वास नहीं होता तो उसमे मानसिक उद्विग्नता और उतावलापन अधिक रहता है। जो व्यक्ति अपने विचारो के प्रचार करने के लिये जितना उतावला होता है उसके विचारों की शक्ति उतनी ही कम होती है और उनका जीवन काल भी उतना ही कम होता है। यदि कोई विचार मौलिक है तो उसका सबसे अधिक लाभ उसी व्यक्ति को होता है जो उस विचार को जन्म देता है। भला विचार मनुष्य की मानसिक शक्ति को बढ़ाता है और उसे आरोग्य प्रदान करता है, बुरा विचार मनुष्य की शक्ति को घटाता है और उसे रोगी बनाता है। जो प्रभाव किसी विचार का दूसरे व्यक्ति के ऊपर होता है वही प्रभाव हमारे मन के ऊपर भी होता है। दूसरे व्यक्ति के कल्याण का विचार हमारा भी कल्याण करता है और दूसरे व्यक्ति के विनाश का विचार अपना भी विनाश करता है। अतएव भले विचार का वास्तविक मूल्य समझकर उसे प्रकाशित करने के लिए उतावला होना आवश्यक नहीं। जितने दिन भला विचार हमारे मनमें रहता है वह परिपक्व होता है। वह हमारा कल्याण तो करता ही है,वह समय पड़ने पर दूसरे लोगों का भी कल्याण करेगा।

लेखक को कितने ही मानसिक रोगियों के अभद्र विचारों का कारण अध्ययन करने का अवसर मिला। दमा, क्षयरोग, आँख की कमजोरी अथवा आत्महत्या के विचारों के पीछे शत्रु भावना के विचार रहते हैं। जिस प्रकार के विचार मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति के विषय में लाता है वैसे ही विचार अपने आपके ऊपर आरोपित होते हैं। कभी-कभी ये विचार वास्तविक रोगों मे भी परिणत हो जाते हैं। मैत्री भावना के अभ्यास से ऐसे कई रोगों का विनाश किया जा सकता है। अपने ही विचार अपने शत्रु होते हैं और अपने ही विचार अपने मित्र होते हैं। जब हम किसी प्रकार के विनाशकारी विचार अथवा घृणा के विचार दूसरे व्यक्ति के,प्रति अपने मन में लाते हैं तो अपने प्रति भी वैसे ही विचार हमारे मन में उत्पन्न हो जाते हैं और

फिर, हम उन्हें हटा नहीं सकते। हम यह जानते ही नहीं कि हमारे मन में ऐसे अभद्र विचार क्यों आ रहे हैं। कितने ही व्यक्ति अपने बुरे विचारों से परेशान होकर आत्महत्या कर लेते हैं। सब समय सबका कल्याण सोचते रहना वास्तव में अपने आपका ही कल्याण करना है। जिस प्रकार प्रकाशित भले विचार अपना और दूसरों का कल्याण करते हैं उसी प्रकार अपना और दूसरों का कल्याण अप्रकाशित भले विचार भी करते हैं। अतएव बुद्ध भगवान का आदेश था कि किसी भी अवाञ्छनीय विचार को मन में स्थान न देना चाहिये।

मनुष्य को चाहिये कि वह सदा अपने विचारों को रचनात्मक बनावे, उन्हें ध्वंसात्मक होने से रोके। जो तलवार के बल पर रहता है वह तलवार से मरता भी है। ध्वंसात्मक विचार दूसरे का विनाश करते हैं, पर वे अपना विनाश भी कर डालते हैं। रचनात्मक विचार सहायता के रूप में आते हैं। वे बुराई को अपने आप ही अलग कर देते हैं।

मानसिक दृढ़ता कैसे आती है ?

मानसिक दृढ़ता का आधार सचाई और मैत्री भावना है। ऋषियों का कथन है कि मानसिक दुर्बलता पापकृत्य से आती है। पाप वह है जिसे हमें दूसरों से छुपाना पडता है। हम अपने विचारों अथवा कृत्यों को दूसरे लोगों से छुपा सकते हैं पर अपने आप से हम उन्हें नहीं छुपा सकते। जब हम कोई अनुचित कार्य करते हैं तो इतना ही ध्यान रखते हैं कि दूसरे लोग उसे न जानने पावें। पर हम तो उसे जानते ही हैं। जब किसी काम को हमारा मन ही अनुचित करता है तो हम अपनी अन्तर भावना को दबा कर अपने आप में ही भेद उत्पन्न कर देते हैं। जो भावना दबाई जाती है वह मन के नीचे चली जाती है। वह मन का आन्तरिक भाग बन जाती है। दबी हुई भावना नष्ट नहीं होती वह सदा क्रियाशील रहती है। इससे हमारे मन में अनेक प्रकार की चिन्तायें और भय उत्पन्न हो जाते हैं। इससे मानसिक अन्तरद्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है और मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है।

जो मनुष्य अपने आपको जितना ऊँचा समझता है उसे अपने आपको धोखा देने के उतने ही अधिक अवसर आते हैं। हमारा सामान्य जीवन चलाने के लिये हमें कई काम ऐसे करने पडते हैं जो नैतिक दृष्टि से उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते। पर हम इन कामों को किसी बहाने से कर लेते हैं और उनकी अनैतिकता की ओर आँख मूंद लेते हैं। पर इस प्रकार हमारे मन में मानसिक झंझट उत्पन्न हो जाती है। जो कुछ काम किया जाय उसे उचित समझ के किया जाय तभी मानसिक झंझटें उत्पन्न नहीं होती।

समाज के हित के लिये झूठ बोलना बुरा नहीं। वही झूठ बोलना बुरा है जहाँ हमारा मन ही उसे बुरा कहता है। हमारे सभी काम एक दिन प्रकाशित हो जाते हैं। समाज-हित के लिये बोला गया झूठ समाज में निन्दनीय नहीं समझा जाता। अतएव इस प्रकार के झूठ से मानसिक कमजोरी नहीं आती। पर जब हम अपने आपको पैसा कमाने अथवा राजनीति में प्रथम स्थान पाने के लिये सत्यवक्ता प्रगट करते हैं तो इस प्रकार के सत्य का कोई महत्व नहीं रहता। राजनैतिक अथवा व्यापारिक सत्य चाल मात्र है। इस प्रकार के सत्य और झूठ में कोई मौलिक भेद नहीं। राजनीति या व्यापार में सत्य का अनुसरण करनेवाले व्यक्ति भाषा की सत्यता पर ही ध्यान रखते हैं, अपने हेतुओं की सत्यता पर वे कोई ध्यान नहीं देते। इससे ऐसे लोगों के मन निर्बल हो जाते हैं।

मानसिक दृढ़ता मैत्री भावना के अभ्यास से बढ़ती है। जो मनुष्य दूसरों को दुःख देने की बात नहीं सोचता रहता उसे दूसरे लोगों से भय

नहीं रहता। जो दूसरों के हित का चिन्तन करता है उसे दूसरे लोगों से भी सहायता की आशा रहती है। अतएव उसके मन में निराशाजनक विचार उत्पन्न नहीं होते। आशातीत मनुष्य में ही मानसिक दृढ़ता रहती है, निराशावादी व्यक्ति में मानसिक दृढता का अभाव रहता है। जब मनुष्य हर समय सोचता रहता है कि वह दूसरे लोगों को कैसे ठगे अथवा उन्हें हानि पहुँचावे तो उसके मन में अन्तरद्वन्द्व चलने लगता है। वह चाहे अपने काम में सफल हो अथवा नहीं उसका मन निर्बल हो जाता है। प्रत्येक मानसिक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। जैसा विचार हम दूसरों के विषय में करते हैं वैसे ही विचार दूसरों के व्यवहार के विषय में हमारे मन में आते हैं। जितनी चालबाजी हम उनके साथ करते हैं, उतनी ही चालबाजी की आशा हम उनसे भी रखते हैं। वास्तव में हमारी कल्पनायें ही हमें चैन नहीं लेने देतीं। वे चिन्ताओं का रूप धारण कर लेती हैं और ये चिन्तायें हमारा सारा आध्यात्मिक बल नष्ट कर देती हैं।

मनुष्य की शक्ति का आधार उसकी कल्पना में ही है। जिस प्रकार की कल्पनाएँ प्रति क्षण उसके मन में उठा करता है वैसा ही उसका भविष्य निर्मित होता है। वास्तविक वस्तुस्थिति जैसी भी हो, मनुष्य अपनी कल्पना के आधार पर सुखी अथवा दुःखी रहता है। दूसरे से बदला लेने, उन्हें दुःख पहुँचाने अथवा उनपर प्रभुता रखने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति की कल्पनायें शुभ नहीं होतीं। उसे अनेक ऐसे विचार आते रहते हैं जिससे उसका उत्साह ही भङ्ग हो जाता है।

मैत्री भावना के अभ्यास करने वाले व्यक्ति को दूसरे लोगों का सामना भी करना पड़ता है। जो लोग समाज का नुकसान पहुँचाने के लिये कटिबद्ध रहते हैं उनका उसे सामना करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में सर्वप्रिय रह नहीं सकता। सच्चे-से-सच्चे और भले-से-भले व्यक्ति को समाज का शोषण करनेवाले व्यक्ति झूठा और दुराचारी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं और उसका विनाश करने का प्रयत्न भी करते हैं। भगवान् बुद्ध का विनाश करने के लिये उन्हीं के चचेरे भाई देवदत्त ने प्रयत्न किया था। कृष्ण के तो हजारों शत्रु थे। इन लोगों को समाज को क्षति पहुँचानेवाले व्यक्तियों से लड़ना पड़ा। यदि किसी व्यक्ति में समाज को नुकसान पहुँचानेवाले लोगों का सामना करने का साहस नहीं है तो उनमें समाज को किसी प्रकार का लाभ पहुँचाने की योग्यता भी नहीं है।

समाज के अनेक स्वार्थी और कायर लोग भले आदमी के नाम से प्रसिद्ध रहते हैं। ये लोग सभी शक्तिशाली लोगों से मित्रता स्थापित करके अपना उल्लू सीधा किया करते हैं। ऐसे लोगों को किसी प्रकार का आत्म-विश्वास नहीं रहता। वे षडयन्त्र रचकर ही अपना काम साधना चाहते हैं। ऐसे लोगों में मैत्री भावना का अभाव रहता है। वे भले और बुरे दोनों प्रकार के व्यक्तियों से डरा करते हैं। इनमें किसी प्रकार की मानसिक दृढ़ता नहीं रहती। मानसिक दृढता अभ्यास से आती है और जिस व्यक्ति को किसी व्यक्ति का सामना करने का अवसर नहीं आता उसे मन दृढ़ बनाने का अभ्यास भी नहीं होता।

मानसिक दृढता का आधार मनुष्य का आन्तरिक हेतु है। जिस व्यक्ति के हेतु शुद्ध होते हैं, उसका आत्मविश्वास बढ़ा हुआ रहता है। अपने हेतुओं के विषय में कभी भी दूसरे लोगों को पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। स्वयं हम भी अपने हेतुओं के विषय में अज्ञ रहते हैं। जिस प्रकार हम दूसरे लोगों को अपने आप के विषय में धोखे में रखने की चेष्टा करते हैं हम अपने आपको भी उसी प्रकार धोखे में रखने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार के प्रयत्न से मन सदा दुविधा में बना रहता है और इस मानसिक अन्तरद्वन्द्व की उपस्थिति के कारण मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। फिर न किसी प्रकार का आत्म-विश्वास मनुष्य को रहता है और न मानसिक दृढ़ता।

जो मनुष्य सदा संकट में रहता है उसे जितनी मानसिक दृढ़ता रहती है आराम से रहनेवाले व्यक्ति अथवा प्रभुताशाली व्यक्तियों के कृपापात्र बने रहनेवाले व्यक्ति में नहीं रहती। सङ्कट में पड़ने पर मनुष्य के सिद्धान्तों की और उसके आत्म-विश्वास की परख होती है।

इस प्रकार का आत्म-विश्वास कठिन परिस्थितियों से लड़ाई के बाद ही उत्पन्न होता है। वास्तव में हमारा आन्तरिक मन ही हमारा भाग्य-विधाता है। जिस प्रकार का मनुष्य का निश्चय होता है वह जगत और उनके नियमों को उसी प्रकार देखने लगता है। जब अपने कुचिन्तन से मन निर्बल हो जाता है तो मनुष्य को न किसी ईश्वर से प्रोत्साहन मिलता और न मित्रों से। आत्म-प्रोत्साहन ही सभी प्रकार के प्रोत्साहन का मूल है। जब हमारा मन सच्चा और पक्का रहता है तो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह अनुकूलता देखता है और जब मन कमजोर हो जाता है तो अपने मित्र ही अपने शत्रु बन जाते हैं।

:०:

काम में रुचि क्यों नहीं रहती ?

जब मनुष्य के मन में शक्ति होती है तो उसकी रुचि काम करने में होती है। किसी काम का रोचक होना मनुष्य के आवेगों की सरसता और सहज प्रवाह पर निर्भर करता है। हम जो कुछ सुनते समझते, देखते अथवा करते हैं उसमें हमारी रागात्मक चित्तवृत्तियाँ सम्बद्ध हो जाती हैं। प्रत्येक ज्ञान का रागात्मक पहलू होता है। प्रत्येक क्रिया के पीछे अनुराग अथवा भाव काम करता है। अनुराग ही काम का प्रेरक होता है। मनुष्य के काम का बाहरी हेतु चाहे जो कुछ हो उसका आन्तरिक हेतु अनुराग ही होता है। आन्तरिक हेतु को प्रेरक कहा जाता है। अँग्रेजी में बाहरी हेतु को रीजन अर्थात् कारण कहा जाता है और भीतरी हेतु को प्रेरक (मोटिव) कहा जाता है। यह प्रेरक रागात्मक मनोवृत्ति अर्थात् अनुराग अथवा भाव ही होता है।

मनुष्य का भाव अथवा अनुराग वह तेल है जो क्रियारूपी दिया की लौ को शक्ति देता है। जिस दिये में जितना अधिक तेल रहता है वह उतनी देर तक जलता है। तेल न रहने पर दिया नहीं जलता। इसी प्रकार भाव की शक्ति रहने पर मनुष्य को अपने काम में रुचि होती है जब भाव की शक्ति समाप्त हो जाती है तो काम में रुचि भी नहीं रहती। ज्ञान और क्रिया सभी की जड में भाव काम करता है।

मनुष्य के भावों का प्रवाह सुखद होता है। भावों में परस्पर विरोध होने पर मनुष्य का चित्त दुःखमय हो जाता है। भाव अनेक प्रकार के हैं। इन भावों को यदि एकमुखी बना दिया जाय तो मनुष्य अपने जीवन में अलौकिक सफलता प्राप्त करे। जब भाव बहुमुखी अथवा पारस्परिक विरोधी हो जाते हैं तब मनुष्य की मानसिक शक्ति आन्तरिक संघर्ष में ही खर्च हो जाती है और वह किसी काम में रुचि नहीं लगा पाता। जो भी काम वह करता है वह बिना मन के करता है। जिस व्यक्ति के मन में आन्तरिक संघर्ष है वह भीतर से बेचैन रहता है। वह थोडा-सा भी काम जब करता है तो थक जाता है। उसे सभी प्रकार के काम अरोचक लगते हैं।

मनुष्य की किसी काम में रुचि उसकी मानसिक शक्ति के संचय पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति की मानसिक शक्ति संचित है वह नये काम को रुचि के साथ कर सकता है और जिस व्यक्ति की मानसिक शक्ति खर्च हो गई है

वह देर तक किसी काम को नहीं कर पाता। वह किसी काम को रोचक नहीं देखता। किसी काम मे रुचि न होना मानसिक शक्ति के अभाव का द्योतक है।

जब किसी व्यक्ति को अपने सामान्य कामों मे रुचि न होती दिखाई दे तो जानना चाहिये कि उसके मन मे आन्तरिक द्वन्द्व चल रहा है और उसकी मानसिक शक्ति उसी द्वन्द्व मे खर्च हो रही है। इस आन्तरिक द्वन्द्व का ज्ञान स्वयं उस व्यक्ति को नहीं होता जिसके मन में यह चला करता है। अतएव इसे जानना बड़ी मनोवैज्ञानिक साधना का परिणाम है।

मनुष्य के मन के दो भाग हैं जिनमें संघर्ष चला करता है एक आदर्शवादी भाग और दूसरा सांस्कृतिक। सघर्ष करनेवाले मन के भाग चेतना के स्तर के नीचे संघर्ष करते हैं। इस प्रकार आदर्शवादी और सास्कृतिक दोनों ही भाग मनुष्य के अनजाने सघर्ष करते रहते हैं। इस संघर्ष का परिणाममात्र मनुष्य को मानसिक बेचैनी और काम मे अरुचि के रूप मे ज्ञात होता है।

मनुष्य के मन की अज्ञात क्रियायें उस समय भी चला करती हैं जब ज्ञात क्रियाये कुछ और ही करती रहती हैं। हिस्टीरिया के रोगी में प्रत्यक्षतः यह देखा जा सकता है। हिस्टीरिया के रोगी के मन के विभिन्न भाग अपना-अपना काम स्वतंत्र रूप से करते रहते हैं। जब चेतनमन एक काम मे लगा रहता है तब अचेतनमन दूसरे काम में लगा रहता है। यदि किसी प्रकार चेतनमन को अलग कर दिया जाय तो अचेतनमन की क्रियाये अपने आप ही स्पष्ट हो जाती हैं। साधारणतः जब हिस्टीरिया के रोगी का बाहरी मन आन्तरिक संघर्ष के कारण थक जाता है तो अपने आप ही वह अचेतन अवस्था मे आ जाता है, और फिर अचेतनमन की आन्तरिक क्रियायें सबके सामने व्यक्त हो जाती हैं। परन्तु ये प्रतीक रूप से ही बाहर आती हैं। अतएव दूसरे लोग इनके वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पाते।

अचेतनमन की क्रियाओं को हिस्टीरिया के रोगी को सम्मोहित करके भी जाना जा सकता है। सम्मोहन के द्वारा चेतनमन को अलग किया जा सकता है और फिर अचेतनमन को क्रियायें अपने आप ही व्यक्त हो जाती हैं। ये क्रियायें मनुष्य की जाग्रत अवस्था मे उसी प्रकार चलती रहती हैं जिस प्रकार वे सम्मोहित अवस्था में चलती हैं। परन्तु हमे उनका ज्ञान होना संभव नहीं होता। कभी-कभी वे मनुष्य की सांकेतिक चेष्टाओं के द्वारा, उसके बाध्य विचारों के द्वारा व्यक्त होती हैं। कभी-कभी हम उन्हें रोगी के स्वप्नों को जानकर समझ सकते हैं। परन्तु इस कार्य के लिये मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता होती है।

जो व्यक्ति उक्त प्रश्न को करता है उसके मन में अपनी वासना के प्रति घोर संघर्ष चलता रहता है। एक ओर उसकी आदर्शवादिता उसे वासना से दूर रहने के लिये बाध्य करती है और दूसरी ओर उसकी अवस्था उसे उसी ओर ले जाती है। अपने आपसे असंतुष्ट व्यक्ति अपने असंतोष का कारण अपने से बाहर खोजते हैं और वे इस कार्य में सफल भी हो जाते हैं। जिस व्यक्ति की इस प्रकार मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है वह किसी काम में मन नहीं लगा पाता।

संयम के अभाव में मनुष्य को किसी कठिन काम में रुचि भी नहीं होती। जो व्यक्ति अपने मन को जिस ओर जावे उसी ओर जाने की छूट दे देते हैं वे भी बहुत देर तक किसी काम को नहीं कर पाते। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। अभ्यास के अभाव में मनुष्य कोई बड़े काम को अच्छी तरह से नहीं कर पाता। मनुष्य जो कुछ करता है, उसी में उसकी रुचि हो जाती है। जब मनुष्य की रुचि एक काम में हो जाती है तो उसे दूसरा काम करना कठिन हो जाता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ध्यान को लगाने से जो मानसिक शक्ति का व्यय होता है वह मनुष्य को किसी कठिन काम को करने के अयोग्य बना देता है। यह मानसिक थकावट का प्राथमिक कारण है।

परन्तु प्रतिभावान व्यक्तियों को जो काम में अरुचि होती है उसका कारण आन्तरिक संघर्ष होता है। इस आन्तरिक संघर्ष को मिटाने पर ही मनुष्य लगन के साथ देर तक किसी काम को कर पाता है।

काम करने की शक्ति कैसे आवे ?

डा० विलियम ब्राऊन का कथन है कि हमारे मन में जितनी शक्ति है उसके बहुत क्षुद्र भाग का ही हम उपयोग कर पाते हैं। हमारी अधिक मानसिक शक्ति आन्तरिक द्वन्द्व में खर्च हो जाती है। मानसिक शक्ति के बढ़ाने के दो उपाय हैं- पहला मानसिक सघर्ष को समाप्त करना और दूसरा अपने भविष्य में तथा अपने आप मे विश्वास रखना। मानसिक शक्ति भविष्य के विषय में आशावादी विचार रखने से बढ़ जाती है।

मानसिक सघर्ष का अन्त करना सरल कार्य नही है। यह सघर्ष मनुष्य की चेतना की सतह के नीचे होता है। अतएव इसके अन्त करने के प्रयत्न से वह और भी अधिक बढ़ जाता है। मनुष्य जब कोई प्रयत्न करता है तो वह अपना आत्मसात अपने आदर्शवादी स्वत्व से कर लेता है। इससे उसका भोगवादी स्वत्व उसके सामने ही नहीं आता। जिस समय मनुष्य सोचता है कि उसने अपने भीतरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली क्यों कि वे अब क्षेत्र मे दिखाई नही देते उस समय ही उसके व्यक्तित्व को भारी खतरा रहता है। ऐसी अवस्था में उसका आन्तरिक मन चीते जैसा व्यवहार करता है। वह सामने से दूर हो जाता है परन्तु पीछे से उस पर आक्रमण करता है। मनुष्य को अपने भीतरी मन को पहचानने के लिए उसके प्रति उदारता का भाव लाना होगा। भोग-वासनाओं का जब तक तिरस्कार किया जावेगा वे मनुष्य के आदर्शवादी स्वत्व के साथ लुका-छिपी का खेल खेलती रहेंगी। वे तभी उसकी चेतना के समक्ष आवेगी जब वे आदर्शवादी स्वत्व से नहीं डरेंगी, अर्थात् जब मनुष्य का आदर्शवादी स्वत्व उनको जीवन मे स्थान देने के लिए तैयार होगा।

जब मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों को मानस पटल पर आने देता है तब वे वृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व की शत्रु न बनकर उसकी मित्र बन जाती हैं। इनकी सहायता से वह अनेक प्रकार के उपयोगी काम कर सकता है। अपने निम्न स्वत्व के प्रति मैत्री भाव रखने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य नैतिकतावादी न बनकर आध्यात्मिक बने। नैतिक प्रवृत्ति के व्यक्ति पाशविक वृत्तियों का अपने आप मे और दूसरो में कठोरता से दमन करते हैं। इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ इन लोगो के चेतन मन से अलग होकर अचेतन मन मे

चली जाती हैं भोग-वासनाओं के दमन से उनका विनाश न होकर वे दुष्ट और चालाक बन जाती हैं। वे फिर मनुष्य का विनाश करने के लिए उद्यत हो जाती हैं।

मनुष्य अपनी दमित प्रवृत्तियों में समन्वय दो प्रकार कर सकता है—एक अचेतन प्रवृत्तियों को चेतना के स्तर पर लाकर विरोधी प्रवृत्तियों में मेल करने से और दूसरे आत्म-निर्देश द्वारा। अपने मन की बात किसी श्रद्धालु व्यक्ति से कहने से और उससे सभी भूलें स्वीकार कराने से दमित प्रवृत्तियों की शक्ति कम हो जाती है। हममें से अनेक व्यक्ति अपनी सामान्य क्रियाओं के प्रति पाप-भावना रखते हैं। पाप-भावना के कारण उन भावनाओं से सम्बन्धित आवेग का दमन होता है और वह आवेग फिर मानसिक विभाजन कर देता है। जब मनुष्य अपनी लज्जाजनक बातों को अपने प्रिय जन के समक्ष कह डालता है तो उसकी पाप भावना समाप्त हो जाती है। इससे उसकी मानसिक दुर्बलता भी समाप्त हो जाती है। फिर वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक शक्ति को अपने काम में ले आता है

जो लोग बात-बात में आत्मभर्त्सना करते रहते हैं, वे अपने मन को दुर्बल बनाने लगते हैं। कभी-कभी अपनी भर्त्सना का भाव अपने आस पास के लोगों पर आरोपित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति अपने आपकी आलोचना न करके, दूसरों की आलोचना करने लगते हैं और दूसरों में सुधार की चेष्टा करने लगते हैं। ये लोग कुछ इच्छा-शक्ति का बल अपने आप में प्रदर्शित करते हैं। परन्तु वे आस पास के लोगों का अपना शत्रु बना लेते हैं। ये बाहरी शत्रु वास्तव में अपने ही भीतर शत्रुओं के आरोपण-मात्र हैं। जो अपने आपका शत्रु है वह अपने से बाहर अनायास शत्रु पैदा कर लेता है। दूसरों के साथ सभी प्रकार की शांति की इच्छा रखते हुए वह अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु देखने लगता है। इनसे लड़ते-लड़ते उनकी सारी मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है और फिर उसे संसार में निराशा ही निराशा दिखाई देती है। जो व्यक्ति आत्मसमन्वय प्राप्त कर लेता है उसे बाहर कोई शत्रु नहीं दिखाई देता। उसे बाहरी लोग भी प्यार करते हैं।

आत्म-दमन करनेवाले लोगों की जगत में प्रशंसा होती है। ऐसे लोगों की बात दूसरे लोग मानते हैं। तपवादी व्यक्तियों की अपेक्षा भोगवादी लोगों का समाज में सम्मान न होना स्वाभाविक है। परन्तु तपवाद आत्म-समन्वित नहीं है। अतएव वह भीतरी संघर्ष उत्पन्न कर देता है जो बाहरी संघर्ष में व्यक्त होता है। यदि तपवादी व्यक्ति राष्ट्र का किसी समय नेता बना तो राष्ट्र

का विभाजन ऐसे दो वर्गों से हो जाता है जो एक आदर्शवादी और दूसरा भोगवादी। भोगवादी भाग फिर बड़ी ही दुष्टता से व्यवहार करता है। तपवाद उदारता का द्योतक नहीं। जो व्यक्ति अपने आपके प्रति उदार नहीं वह दूसरों के प्रति उदार कैसे बन सकता है? जिस निष्ठुरता से वह अपने आपका दमन करता है वह दूसरों का भी उसी प्रकार दमन करता है। इस प्रकार वह अपने चारों ओर शत्रु उत्पन्न कर लेता है। इसलिए ही कहा गया है कि नर्क के लिए मार्ग भली कामनाओं से ही बन जाता है।

अमैत्री भावना और कायरता

भगवान बुद्ध ने मैत्री-भावना के ग्यारह फल बताए हैं। जो मनुष्य सर्वत्र मैत्री-भावना का अभ्यास करता है, उसे इन फलों की प्राप्ति होती है। इनमें से बताए बहुत से फल मनोवैज्ञानिक प्रयोग द्वारा प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। इनमें से एक फल यह भी है, कि मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है। मैत्री-भावना के अभ्यास से मनुष्य में निर्भीकता आती है। जिस प्रकार के विचार हम दूसरे व्यक्ति के विषय में अपने मन में लाते हैं, दूसरा भी हमारे प्रति वैसे ही विचारों का पोषण करता हैं। यदि हम दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाना चाहते हैं, तो वह भी हमें हानि पहुँचाने की बात सोचता है। इस प्रकार मैत्री-भावना से हमें आत्म-प्रसाद और साहस मिलते हैं; और अमैत्री-भावना के अभ्यास से निराशा तथा भय की उत्पत्ति होती है। मैत्री-भावना मनुष्य के मन को शान्त बनाती है, और अमैत्री-भावना उसे अशान्त बनाती है।

मनुष्य के स्वप्न उसके नित्य-प्रति के अभ्यास पर निर्भर हैं। वह जिस प्रकार के विचारों को लेकर सोता है, उसके स्वप्न भी उसी प्रकार के होते हैं। सोते समय के विचारों का मनुष्य की नींद, स्वप्न तथा स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जिस प्रकार के भावों को लेकर सोता है, जागने पर उसी प्रकार के विचार उसके मन में उदित होते हैं।

मैत्री-भावना का अभ्यास करते हुए जो मनुष्य सोता है, उसे सुख की नींद आना स्वाभाविक है। यदि वह स्वप्न देखेगा, तो वह मित्रों का स्वप्न होगा। अमैत्री-भावना का अभ्यास करते हुए सोने से मनुष्य को भयंकर स्वप्न होना भी स्वाभाविक है। वह यदि मनुष्यों का स्वप्न देखेगा, तो स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले मनुष्य उसे नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं। जिन लोगों से मनुष्य ईर्ष्या द्वेष करता है अथवा जिन्हें दुःख देना चाहता है; उनसे उसे भी भय रहता है। यह भय तो प्रत्यक्ष होता है, या अप्रत्यक्ष। जब मनुष्य का भय अज्ञात होता है, तो एक ओर तो वह अपनी बहादुरी की लम्बी-चौड़ी डींगें मारता है, और दूसरी ओर अपने आप में उत्साह की कमी पाता है। ऐसा व्यक्ति स्वप्न में अपने आप को अनेकों प्रकार के संकटों में पाता है। कभी वह पहाड़ पर से पटका जाता है, कभी पानी में डुबाया जाता

है, कभी उस पर घातक जानवर आक्रमण करते हैं, तो कभी वह अपने आप को भारी रोग में पड़ा पाता है। उसके इस प्रकार के स्वप्न उसकी अमैत्री-भावना के फलस्वरूप होते हैं।

अमैत्री-भावनाओं का अभ्यास मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ उत्पन्न करता है। इससे मनुष्य के हृदय में अनेक प्रकार की अकारण चिन्ताएँ और भय उत्पन्न होते है। इन चिन्ताओं के कारण मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। जिस मनुष्य के हृदय में जितनी ही सद्भावनायें होती हैं, उसका मन उतना ही शान्त रहता है, और उसकी इच्छा-शक्ति भी उतनी ही दृढ़ होती है। इच्छा-शक्ति का बल मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से क्षीण हो जाता है। यह अन्तर्द्वन्द्व ईर्ष्या-द्वेष के विचारों से उत्पन्न होता है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल घट जाता है, तब किसी काम को हाथ में लेते ही उसके मन में अनेक प्रकार की उत्साह-नाशक कल्पनाएँ उठ जाती हैं। इन कल्पनाओं के कारण उसको अपनी सफलता में विश्वास नहीं होता। जिस मनुष्य को अपनी सफलता में विश्वास नहीं रहता, उसके लिए किसी काम को लगन से करना असम्भव ही है।

अमैत्री भावना के अभ्यास करने वाले व्यक्ति को किसी काम का प्रारम्भ करते ही अनेक प्रकार के अपशकुन हो जाते हैं। ये अशकुन उसके उत्साह को भग कर देते हैं। जब ब्रूटस और कैशियस मार्क एन्टोनी से लड़ने गए तो उन्हें मार्ग में अनेक प्रकार के अपशकुन दिखाई पड़े। इन अपशकुनों पर उनकी दृष्टि जाती थी, जिससे उनके मन में कायरता के विचार उत्पन्न होते थे। अन्त में उनका अन्त भी आत्म-हत्या के द्वारा हुआ।

जिस मनुष्य को किसी काम के करने के पूर्व अपशकुन होते हैं, उसे हमें स्वार्थी और द्वेषी ही समझना चाहिए। मनुष्य के आन्तरिक विचार जिस प्रकार के होते हैं, बाहर भी उसे उसी प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं। अपनी सफलता के विषय में अधिक चिन्तित रहनेवाले व्यक्ति को अपनी असफलता का भय रहता है। इस भय के कारण उसकी दृष्टि भी ऐसी ही घटनाओं की ओर जाती है, जो अशुभ-सूचक हैं और उसके उत्साह को भग करती हैं।

मनुष्य के प्रतिक्षण के विचार उसके व्यक्तित्व को बनाते हैं। वीर पुरुष के प्रतिक्षण के विचार आशायुक्त होते हैं, और कायर पुरुष के प्रतिक्षण के विचार निराशा-जनक। वह अपने आप को भारी संकटों में ही घिरा पाता है। जब हम अपने चारों ओर शत्रु-ही-शत्रु पाते हैं, तो हमारा धैर्य्य नष्ट हो

जाता है, और जल्दी में आकर हम कुछ का-कुछ कर बैठते हैं। जो मनुष्य भविष्य के विषय मे जितना ही अधिक सोचता रहता है, वह अपने को उतना ही अधिक संकटों से घिरा पाता है। मनुष्य की कल्पनाएँ वास्तविकता में परिणत हो जाती हैं। अमैत्री भावना की अवस्था मे शुभ कल्पनाओं का आना संभव नहीं। ऐसी अवस्था मे मनुष्य को आत्म-विश्वास भी नहीं रहता। अतएव सामान्य घटना को भी वह भारी समझकर उससे घबड़ा जाता है। इस प्रकार अपनी सफलता को भी विफलता मे परिणत कर देता है।

अमैत्री भावना स्वार्थ-परायणता से उत्पन्न होती है और मैत्री भावना चित्त की उदारता से। स्वार्थी मनुष्य चाहें कितना ही शान्त क्यों न दिखाई दे वह भीतर से सुखी नहीं रहता। उसके मन में अकारण ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते रहते हैं। पहिले तो वह समाज के अन्य लोगों को ही अपना शत्रु समझता रहता है। उसे डर रहता है कि कहीं दूसरे लोग उसे धन अथवा अधिकार से वंचित न कर दें। अतः वह अपने कल्पित शत्रुओं के विनाश के लिए अनेक प्रकार के षडयंत्र रचा करता है। पर इस प्रकार के षडयंत्र रचने से उसके मन की अवस्था दयनीय हो जाती है। भयभीत अवस्था में रहनेवाले व्यक्ति को सुख की नीद नहीं आती। भले लोग भी उसे अपने दुश्मन दिखाई देते हैं। वह उनसे सदा सतर्क रहता है, और इस प्रकार वह उन्हें अपना शत्रु बना लेता है।

अमैत्री भावना के विचार मन में रखनेवाले व्यक्ति मे अपने शत्रु से युद्ध करने की क्षमता भी नहीं रहती। युद्ध के समय संचालन के लिए शान्त मन की आवश्यकता होती है। वही व्यक्ति युद्ध में विजय पाता है, जो अपने पक्ष की सचाई में पूर्ण विश्वास रखता है। जो व्यक्ति धर्म-बुद्धि से प्रेरित होकर युद्ध करता है, उसमे अपरिमित साहस एव शौर्य का संचार होता है। कायर मनुष्य कभी-कभी युद्ध से जी इसलिए चुराता है कि वह दूसरे लोगों को क्षमा प्रदान करना चाहता है। वास्तव में स्वार्थ-परायणता एवं उदारता अथवा सच्ची दया एक साथ सम्भव नही। डर के कारण जो अहिसा की जाती है, उसका असर प्रतिपक्षी पर उलटा पड़ता है। प्रेम से प्रेरित अहिसा ही सची अहिंसा है। प्रेम-विहीन अहिंसा कायरता का आवरण मात्र है। इस प्रकार की अहिंसा राजनीति मे प्रयुक्त की जा सकती है, पर आध्यात्मिक उन्नति से इसका कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार की अहिंसा से मानसिक दृढ़ता नही अती। अपने प्रतिपक्षी की शुभ-कामना करना और उसके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा करना सची अहिंसा है। इस प्रकार की मैत्री भावना का अभ्यास मनुष्य को

शौर्य प्रदान करता है। जिस प्रकार प्रेम और शक्ति का साथ है, उसी प्रकार द्वेष का सम्बन्ध भय तथा कायरता से है।

मनुष्य की कार्यक्षमता उसकी मानसिक-शक्ति पर निर्भर है। यह मानसिक शक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य को विश्व के अणु-अणु में आत्म-रूपता तथा अपने मे विश्व की व्यापकता का बोध हो जाए, अर्थात् जब वह अपने को विश्व मे तथा अखिल ब्रह्माण्ड को अपने में देखने लगे।

जिस मनुष्य का अहंकार जितना अधिक होता है; उसके शत्रु भी उतने ही अधिक होते हैं। वह अपनी कल्पना में अनेक प्रकार के शत्रु बना लेता है। ऐसी अवस्था मे उसकी मानसिक शक्ति अकारण की चिन्ताओं मे ही खर्च हो जाती है। स्वार्थी मनुष्य को स्वयं प्रकृति भी अधिक शक्ति नही देती। वह उसे उल्टे विनाश की ओर ही ले जाती है।

मानसिक चिकित्सा में प्रेम के भावों की उपयोगिता

मानसिक रोग अपने आप से घृणा के दबे भावों का परिणाम है। जब मनुष्य किसी ऐसे कार्य को कर डालता है; जिसे उसका नैतिक स्वत्व बुरा मानता है तो उसे भारी आत्म-ग्लानि की अनुभूति होती है। अपनी अनैतिक बातों को अथवा अपने अहंभाव को धक्का देनेवाली बातों को कोई भी व्यक्ति दूसरेके सामने कहना नहीं चाहता। अतएव इस प्रकार की आत्म-ग्लानि की शक्ति समाप्त नहीं होती। आत्मग्लानिजनक बातें दूसरों के समक्ष कहने से मनुष्य के आत्म-सम्मान को ठेस अवश्य लगती है; परन्तु वह भाव समाप्त हो जाता है।

मनुष्य अपने कुकृत्यों और बुराइयों को न केवल संसार के दूसरे लोगों से छिपाता है वरन् वह स्वयं से भी छिपाता है। वह ऐसी सभी बातों को भूल जाना चाहता है जिनका स्मरण उसे अप्रिय लगता है अथवा आत्मग्लानि उत्पन्न करता है। परन्तु इस प्रकार अप्रिय घटनाओं को भुलाने से उनसे सम्बन्धित आवेग की समाप्ति नहीं होती, वरन् उसकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। यह शक्ति तब तक समाप्त नहीं होती जब तक वह किसी न किसी रूप में मनुष्य की चेतना के समक्ष न आवे। परन्तु जिस समय भी और जिस रूप में यह चेतना के समक्ष आवेगी, वह अप्रिय बनकर ही आवेगी। दबी अप्रिय भावना, भयावने स्वप्न, निन्दनीय आदत, झक तथा किसी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग के रूप में वह चेतना के स्तर पर आती है। रोग केवल दबी वासना के प्रतीक होते हैं। यदि किसी व्यक्ति ने अपने हाथ निंद्य (घृणास्पद) कार्य किया तो उसका हाथ अकारण ही कांपने लगता है। परीक्षा के समय इस प्रकार का रोग अचानक आ जाता है। निन्द्य रूप से वीर्यपात करनेवाले लोगों को सफेद कुष्ठ, एक्जिमा आदि चर्म रोग हो जाते हैं, अथवा इनको अकारण ही भय हो जाता है। अपने समीप के सम्बन्धी से व्यभिचार की भावना मनमें आने से मनुष्य को नपुंसकता का अकारण भय उत्पन्न हो जाता है। रोग उसी अंग से सम्बन्धित रहता है जिसका दुरुपयोग किया जाता है।

किसी भी ग्लानिजनित भाव की समाप्ति उसके चेतन स्तर पर आने, और उस पर विचार करने, तथा उसके लिये प्रायश्चित्त करने से हो जाती है।

परन्तु दबी भावना को चेतना के स्तर पर लाना सरल कार्य नहीं है। डॉक्टर फ्रायड ने भी भावना को चेतना के स्तर पर लाने के लिए एक विज्ञान ही खड़ा कर दिया है। इस विज्ञान का नाम मनो-विश्लेषण विज्ञान है। जिस प्रकार राष्ट्र के अपराधी लोगों को खोजने और पकड़ने के लिए राष्ट्र की सरकार खुफिया पुलिस से काम लेती है, उसी प्रकार मनो-विश्लेषक अनेक प्रकार के विशेष ज्ञान से दबी भावना का पता चलाता है और उसे चेतना के स्तर पर लाने की चेष्टा करता है। परन्तु दबी वासना को खोजने में जितना कुशल मनोवैज्ञानिक बनता जाता है, दबी भावना भी अपने को छिपाने में उतनी ही कुशल बनती जाती है। अतएव मनोवैज्ञानिक और मानसिक रोगी के बीच लुका-छिपी का खेल प्रारम्भ हो जाता है। रोगी के आन्तरिक मन का सुधार तभी हो सकता है जब कि उसका आन्तरिक मन स्वय अपना सुधार चाहे। यदि दबी भावना को मनोविश्लेषक ने पहचान भी लिया तब भी रोगी का सुधार नहीं होता। किसी व्यक्ति का सुधार आत्म-स्वीकृति और आत्मनिरीक्षा के बिना नहीं होता। मनो-विश्लेषक से रोगी उसी प्रकार डरने लगता है जिस प्रकार खुफिया पुलिस से अपराधी डरता है।

दबे भाव को चेतना के स्तर पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी के मन में विश्वास उत्पन्न हो कि वह किसी प्रकार की आत्म-स्वीकृति कर लेने पर चिकित्सक का स्नेह नहीं खोवेगा। परन्तु जिस चिकित्सक ने प्रारम्भ से ही स्नेह नहीं दिया, अर्थात् जो चिकित्सक पैसे के लिए रोगी की चिकित्सा करता है उसके स्नेह रहने अथवा खोने की रोगी को परवाह ही क्या? मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य का नैतिक स्वत्व उसके भोगमय स्वत्व की भर्त्सना करता है। जब तक दोनों में समन्वय स्थापित नहीं होता, चिकित्सक केवल माध्यम का कार्य करता है। एक ओर उसका नैतिक स्वत्व का प्रतीक होना आवश्यक है और दूसरी ओर उसका रोगी को उसकी कमजोरी मानकर भी स्वीकार करना। जो व्यक्ति केवल रोगी की कमजोरी जानता है और जिसे उसकी नैतिक बुद्धि और खूबियों से मतलब नहीं, वह रोगी को अच्छा नहीं कर सकता। रोगी को अच्छा करने के लिए रोगी के उन गुणों को जानना आवश्यक है जिनके कारण वह लोकप्रियता का पात्र है। इन गुणों पर ध्यान देने से रोगी के प्रति चिकित्सक का प्रेम पैदा होगा। प्रेम रोगी के मन में विश्वास उत्पन्न करता है कि चिकित्सक उसका कल्याण करेगा। यह विश्वास ही उससे आत्म-स्वीकृति कराता है। दबे भावों की आत्म-स्वीकृति मानसिक खिंचाव को हटा देती है और रोग नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य के अचेतन मन में अनेक प्रकार की नैतिक मान्यतायें हैं। इन मान्यताओं का मूल्य वर्तमान समय में कुछ भी न हो परन्तु बचपन में उनका मूल्य बहुत भारी था। ये मान्यता में मनुष्य की उन भावनाओं को दबाये रहती हैं जो इनके विरुद्ध रहती हैं। रोगी मनुष्य को न तो उसकी दबी भावनाओं का ही ज्ञान रहता है और न दबानेवाली मान्यताओं का। अतएव वह अपने रोग का कारण नहीं जानता और दूसरे लोग भी उसके रोग को अकारण ही मानते हैं। मानसिक उलझन के समाप्त होने के लिये एक ओर उन मान्यताओं का ज्ञान होना आवश्यक है जो चेतना के स्तर के नीचे काम कर रही हैं और दूसरी ओर दबे भावों का। बहुत से रोग दबी भावनाओं और प्राचीन समय की मान्यताओं के स्मरण होते ही समाप्त हो जाते हैं। इसका प्रधान कारण दबानेवाली मान्यताओं का वर्तमान काल में निरर्थक होना ही है। परन्तु कुछ मान्यतायें वर्तमान काल में भी अर्थ रखती हैं। यदि ऐसी मान्यता के प्रतिकूल कोई दबा भाव हुआ तो उसकी शक्ति को चेतना के स्तर पर लाकर सन्मार्ग में लगाना आवश्यक होता है।

मान लीजिये किसी व्यक्ति के अचेतन मनमें समलिंगी प्रेम की प्रबलता है। इसी प्रेम के कारण अनेक प्रकार की व्यभिचार-जन्य आत्मग्लानि उसके मन में उत्पन्न हो गई है जो सामान्य नैतिक बुद्धि द्वारा अचेतन मन में दबी पड़ी है। अब इन अचेतन भावनाओं को चेतना के स्तर पर लाया जाय तो रोगी को अब भी भारी आत्म-ग्लानि होगी। इस प्रकार दबी वासना का फिर से दमन हो जावेगा। इस दमन से रोग जैसा का तैसा फिर हो जावेगा। ऐसी अवस्था में आवश्यक है कि समलिंगी-प्रेम की भावना को सुमार्ग पर लगाया जावे। यह किसी प्रकार की धार्मिक उपासना अथवा कलामय रचनाओं से हो जाता है। रसखान का समलिंगी प्रेम कृष्ण की उपासना बन गया। इसी प्रकार यूनानी कलाकारों के समलिंगी प्रेम ने नग्न प्रतिमाओं के निर्माण का रूप ले लिया। इस प्रकार दबी हुई अनैतिक भावना की शक्ति रचनात्मक कार्य में काम आ गई।

दबी मानसिक भावना को रचनात्मक कार्य में लगाना प्रेम के वातावरण में सरल हो जाता है। रोगी अपने हितैषी से न केवल अपने मनकी सभी बुरी बातों के कहने के लिये उतावला रहता है, वरन् अपने कल्याण का मार्ग भी मानने के लिये वह इच्छुक रहता है। वह अपने कल्याण-कर्ता का अनुकरण भी प्रेम-वश करने लगता है। इस प्रकार भी उसके मनके विभिन्न भावों में समन्वय स्थापित हो जाता है। जब रोगी स्वय प्रेम की भावना का अभ्यास दूसरे व्यक्तियों के प्रति करता है तो उसका आत्म-समन्वय प्राप्त करना सरल

हो जाता है। हम जब दूसरे लोगों को प्यार करते हैं तो उनके दोषों को मानकर भी क्षमा कर देते हैं। फिर जिस प्रकार हम दूसरों को उनके दोषों के लिये क्षमा करते हैं उसी प्रकार हमारा मन भी हमें अपने दोषों के लिये क्षमा कर देता है। उदारता के भाव न केवल दूसरे को लाभ पहुँचाते हैं वरन् वे स्वयं को भी लाभ पहुँचाते हैं। हम अपने आचरण को उदार बनाकर आसपास के सभी लोगों को उदार बना देते हैं। उदारता प्रौढ़ता लाती है। इसके कारण भी दूसरे लोग हमारा अनुकरण करते हैं। अतएव यदि चिकित्सक उदार है तो वह अपने रोगियों को अपने आचरण और विचार द्वारा सरलता से उदार बना देता है। यही उसकी मानसिक चिकित्सा है। दूसरों के प्रति उदार व्यक्ति अपने प्रति उदार होता है और दूसरों के प्रति क्रूर व्यक्ति अपने प्रति भी क्रूर होता है। इसी प्रकार अपनी ही आन्तरिक क्रूरता और उदारता दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार में प्रकाशित होती है।

भले कामों का मनोवैज्ञानिक फल

भले काम का मनोवैज्ञानिक फल मनुष्य को हतोत्साह होने से बचाता है। प्रत्येक मनुष्य को जीवन में सफलता और विफलता मिलती रहती है जब मनुष्य को सफलता मिलता है तो उसका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है, जब उसे विफलता मिलती है तो आत्म-विश्वास कम हो जाता है। जो व्यक्ति अपने सभी कामों का उद्देश्य समाज सेवा रखता है वह इस प्रकार की सफलता अथवा विफलता से उद्विग्न मन नहीं होता। उसकी शक्ति व्यर्थ की निराशावादी कल्पनाओं में खर्च नहीं होती। किसी प्रकार की विफलता होने पर जब मनुष्य निराश हो जाता है तो वह ऐसी बातों को भी सोचने लगता है जो अभी घटी नहीं है। निराशा के प्रवाह में पड़ जाने पर मनुष्य अपनी बहुत-सी हानि व्यर्थ ही कर डालता है।

स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर किया गया काम मनुष्य को कभी न कभी निराश करता है। जिस मनुष्य की परोपकार करने की आदत रहती है उसे जल्दी से निराशा नहीं आती। निराशा के समय मनुष्य का पुण्य उसके काम आता है। पुण्य कर्म उसे निराशा में पड़ने से बचा लेते हैं। मनुष्य को जीवन देनेवाली वस्तु आशा ही है। निराश हो जाने पर मनुष्य प्राणहीन जैसा हो जाता है।

भला काम मनुष्य को प्रारम्भ से ही लम्बी-लम्बी इच्छाओं को बनाने से रोकता है। जिस मनुष्य की स्वयं की लम्बी इच्छाएँ नहीं रहती वह पहले से अपने आपको मानो निराश के समान बनाये रहता है। ऐसे व्यक्ति को दूसरे प्रकार की निराशानिराश नहीं करती। सदा भला काम करने से मनुष्य में एक प्रकार की आत्म-नियन्त्रण की शक्ति आ जाती है। भले काम करनेवाले को संतोषी बनना पड़ता है। यह संतोष का अभ्यास ही मनुष्य को आत्म-नियन्त्रण की शक्ति देता है। जिसे आत्म नियन्त्रण की शक्ति है वह देर तक किसी प्रकार के नुकसान पर विचार नहीं करता। वह अपने विचार शीघ्र ही रचनात्मक बना लेता है।

संसार में वही मनुष्य प्रगतिशील होता है जो पुरानी विफलताओं से कुछ सबक लेकर आगे बढ़ता रहता है। पुरानी विफलता पर चिन्तन करते रहने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य न अपनी सफलता के लिए दूसरे लोगों से बहुत प्रशंसा पाने की चेष्टा

न करे और न असफल होने पर बहुत सम्वेदनाओं को सुने। यदि अपने जीवन में कोई भूल है तो उसे सुधार लेना-मात्र हमारा कर्तव्य है।

भले काम मनुष्य को अपना धैर्य नहीं खोने देते। जब मनुष्य अपना धैर्य नहीं खोता तो वह अपनी हानि को लाभ में परिणत करने में सफल होता है। यदि हानि हानि ही रही तो भी वह उतनी कठोर नहीं होती जैसी धैर्य खो जाने पर हो जाती है। मनुष्य अपनी कल्पना से ही अपनी छोटी-सी हानि को भी बहुत भारी बना देता है।

प्रत्येक भला काम संचित द्रव्य के समान है। यह द्रव्य इच्छा-शक्ति के बल के रूप में संचित रहता है। प्रत्येक भले काम से मनुष्य की इच्छा-शक्ति बली होती है और प्रत्येक बुरे काम से वह निर्बल हो जाती है। दुर्बल इच्छा-शक्ति ही मनुष्य का जीवन नर्क बना देती है और बलवान इच्छा-शक्ति का बल भले काम से बढ़ता है। प्रत्येक भले काम के लिए मनुष्य को मन को रोकना पड़ता है उसे तप और लाभ का अभ्यास करना पड़ता है। ये ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति को बली बनाते हैं।

इमरसन महाशय का कथन है कि कवि, दार्शनिक और संत के लिए सभी बातें अनुकूल और दैवी हैं, सभी घटना में लाभदायक, सभी दिन भले और सभी मनुष्य देव तुल्य हैं। इस प्रकार का विश्वास उसी व्यक्ति को होता है जिसके जीवन का उद्देश्य मानव समाज का अथवा प्राणिमात्र का कल्याण करता है। हम जब किसी हानि के समीपस्थ परिणाम को देखें तो वे बड़े भीषण दिखाई देते हैं, परन्तु उसी के दूरस्थ परिणाम को यदि हम देखें तो वे लाभ में ही परिणत होते दिखाई देते हैं। नादान बुद्धि के लोग समीपस्थ परिणाम से ही अपना धैर्य खो देते हैं। इसी कारण वे अधिक हानि उठाते हैं।

मनुष्य की मौलिक लाभ और हानि उसके मन के भीतर ही है। अपने मन को वश कर सकना, यही सबसे कठिन पुरुषार्थ है। यह तभी संभव होता है जब मनुष्य अपने जीवन को कठोर और लाभमय बनाता है। दूसरों की सहायता करने का यही परिणाम है कि आपत्तिया के सिर पर पड़ जाने पर हमारा अन्तःकरण हमारी सहायता करता है। इससे आपत्तियाँ चली नहीं जातीं, परन्तु मनुष्य में उन्हे सहन करने की शक्ति आ जाती है।

मानसिक शक्ति का व्यय और अवरोध

नवीन मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की मुख्य मानसिक शक्ति काम शक्ति है। यह शक्ति हमारे मन में प्रति दिन तैयार होती है। इसके खर्च के तीन मार्ग हैं – विषय भोग, कर्म और ज्ञान। साधारणतः प्रत्येक मनुष्य की कुछ शक्ति विषय भोग में खर्च होती, कुछ कर्म में खर्च होती और कुछ ज्ञान में। भारतीय दर्शनों में मूल प्रकृति को त्रैगुणात्मक माना गया है। तम, रज और सत के मिश्रण से संसार का निर्माण हुआ है। भोग, कर्म और ज्ञान, उक्त तीनों गुणों के क्रमशः प्रकाशित रूप हैं। साधारणतः हमारी अधिक शक्ति भोग में प्रकाशित होती है जो बचती है वह कर्म में प्रकाशित होती है और ज्ञान के लिए बहुत थोड़े ही शक्ति बच जाती है। भोगासक्त मनुष्य कर्म और ज्ञान में लगता है पर उसके कर्म और ज्ञान का लक्ष्य भोग्य पदार्थ प्राप्त करना होता। इसी प्रकार कर्मासक्त और ज्ञानासक्त व्यक्ति भी अन्य दो प्रकार के व्यवसायों में लगते हैं पर वे उनके प्रधान लक्ष्य नहीं होते।

जब मनुष्य की भोगवासनाओं का दमन होता है तो उसके दो परिणाम होते हैं एक अवरोध और दूसरे शोध। भोग वासना की शोध की अवस्था में मानसिक शक्ति मनुष्य की कार्यशीलता और उसके ज्ञान को बढ़ाती है, पर उसकी अवरोध की अवस्थाओं में वह मानसिक रोग का कारण बन जाती है। इससे मनुष्य को अनिद्रा, बेचैनी, चञ्चलता, चिन्ता, भय और अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। अवरुद्ध वासना अपने प्रकाशन का कोई छिपा मार्ग निकालती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि हमारी सम्पूर्ण मानसिक शक्ति का शोध करना सम्भव नहीं। अतएव मनुष्य के मन की साम्यावस्था उसी समय होती है जब उसके जीवन में भोग, कर्म और ज्ञान का साम्य होता है।

स्वभावतः मनुष्य के जीवन के प्रथम काल में भोग की प्रधानता होती है, द्वितीय काल में कर्म की और तृतीय काल में ज्ञान की। तीस वर्ष तक मन भोगासक्त रहता है, पचास वर्ष तक कर्मासक्त और इसके बाद आत्म-ज्ञान की प्रबल इच्छा होती है। पर जब किसी मनुष्य का मानसिक विकास उचित रूप से नहीं होता तो पचास वर्ष की आयु के बाद भी उसे भोगेच्छा अथवा कर्म करने की प्रबल इच्छा बनी रहती है। जिन व्यक्तियों की भोगेच्छा का

अवरोध यकायक हो जाता है उनकी भोगेच्छा उन्हें बुढ़ापे में भी त्रास देती है। वह उन्हे सदा बेचैन बनाये रहती है। जो व्यक्ति किसी प्रकार के उद्वेग के कारण भोगों को छोड़कर कर्म में लग जाते हैं वे आत्मज्ञान की ओर नहीं बढ़ते। वे मरणपर्यन्त कर्म-संसार में ही विचरण करते रहते है। उनकी पुरानी अनुभूतियाँ मानसिक ग्रन्थियों का रूप धारण कर लेती है। ये ग्रन्थियाँ मनुष्य के मानसिक विकास मे रुकावट का कारण बन जाती है।

मानसिक शक्ति के शोध का परिणाम ज्ञान है। पर जब तक मानसिक शक्ति का अवरोध रहता है तब तक उसका शोध सम्भव नहीं। मानसिक ग्रन्थियो के खुलने पर ही मानसिक शक्ति का शोध सम्भव है। इसके लिए मनुष्य को अपने आप को समझना और स्वीकार करना आवश्यक है। अपने आप को जानने और स्वीकार करने से ही मानसिक शक्ति का अवरोध नष्ट हो जाता है। इसके लिए मनुष्य को विषय भोग में लगना आवश्यक नहीं होता। मनुष्य को अपना आचरण अपनी परिस्थिति के अनुसार ही बनाना पड़ता है। आचरण मे परिवर्तन किये बिना मानसिक ग्रन्थि का निराकरण किया जा सकता है। कभी-कभी आचरण में परिवर्तन नई मानसिक व्याधियो को उत्पन्न कर देता है।

कितने ही ब्रह्मचारी साधु लोग एक स्थान पर देर तक नहीं ठहर पाते। कितने ही सदाचारी व्यक्ति बात-बात में क्रुद्ध हो जाते अथवा बच्चों जैसे रूठ जाते हैं। एक ओर उनकी कार्य-क्षमता और त्याग पर ससार के लोग दंग रहते हैं और दूसरी ओर वे अपने ही स्वभाव से परेशान रहते हैं। एक जगह न ठहर सकने के कारण वे किसी काम को लगन के साथ नहीं कर पाते। कोई-कोई लोग सदा किसी विलक्षण काम की खोज मे रहते हैं। उनका मन साधारण काम में नहीं लगता। जिस काम को सभी लोग करने लगते हैं वे उसे छोड़ देते हैं। इस प्रकार की मानसिक परिस्थिति का कारण उनके मन में मानसिक ग्रन्थियो की उपस्थिति है। ये मानसिक ग्रन्थियाँ उन्हें सदा चञ्चल बनाये रखती हैं और अपने आपको विलक्षण व्यक्ति सिद्ध करने के लिए बाध्य करती है। जब तक परिस्थिति अनुकूल रहती है तब तक ऐसे व्यक्ति बहुत कुछ विलक्षण कार्य कर दिखाते हैं। पर जब परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाती हैं तो उनकी मानसिक शक्ति विनाशात्मक मार्ग ले लेती है।

परमात्मा की मनोवैज्ञानिक सत्ता

आधुनिक काल के कुछ मनोविज्ञानिकों का कथन है कि ईश्वर, देवी-देवता और पुनर्जन्म का कोई वैज्ञानिक प्रमाण खोजना कठिन है, परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से यह आवश्यक हैं। संसार के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक चार्ल्स युङ्ग का कथन है कि कोई भी मानसिक रोगी तब तक पूर्ण स्वस्थ नहीं होता जब तक वह जगत के निश्चित विधान अथवा धर्म में विश्वास नहीं कर लेता और जिस व्यक्ति के धार्मिक विश्वास दृढ़ हैं वह मानसिक रोगी नहीं होता। इसकी जगह उन्होंने कहा है कि जो लोग मरने के बाद के जीवन में विश्वास करते हैं उन्हें सामान्य मानसिक रोग नहीं होते, यदि ऐसे लोगों को मानसिक रोग हो जावें तो अगले जन्म में विश्वास न करनेवाले लोगों की अपेक्षा उन्हें जल्दी से अच्छा किया जा सकता है।

डाक्टर फ्रायड स्वयं धर्म को एक भ्रम मात्र मानते थे और उन्होंने अपनी "फ्यूचर आफ एन इलूजन" नामक पुस्तक में बताया है कि रिलिजन (धर्म) का भ्रम विज्ञान के आलोक के बढ़ने पर समाप्त हो जावेगा। यदि धर्म एक भ्रम मात्र है, अर्थात् अन्धविश्वास पर निर्भर है, तो उसका समाप्त होना ही अच्छा होगा। परन्तु क्या इस विश्वास के समाप्त होने पर मनुष्य का कल्याण होगा? इस सम्बन्ध मे डा० युङ्ग ने बताया कि जब मनुष्य किसी अलौकिक सत्ता को संसार के विलक्षण कार्य करनेवाला नहीं मानता तबतक मनुष्य जो कुछ काम करता है वह उसका श्रेय अपने आप ही ले लेता है। इस प्रकार मनुष्य का अभिमान (ईगो) इतना बढ़ जाता है कि उसका सम्हालना कठिन हो जाता है। मनुष्य की बढ़ी चढ़ी ईगो उसके जीवन को असन्तुलित कर देती है। फिर उसमें अपने आप विरोध उत्पन्न होकर मनुष्य दयनीय अवस्था में आ जाता है। अत्यधिक बढ़ी ईगो (अभिमान) पागलपन की पूर्वावस्था है। यह स्वयं ही एक पागलपन है। मनुष्य जब अभिमान को ही जीवन की सर्वोच्च सत्ता मान लेता है तो वह ऐसे दर्शन का (अथवा कार्य का) निर्माण करता है जिससे उसको समाज से विरोध हो तथा समाज में अनेक प्रकार की कलह उत्पन्न हों। वह अपने दर्शन की असफलता स्वयं देखता है और उसका अन्तिम जीवन निराशा में व्यतीत होता है। डा० फ्रायड का जीवन दर्शन निराशावादी बन गया था। अलेक्जेंडर, नेपोलियन और हिटलर निराश युक्त होकर मरे। अत्यन्त सम्मान प्राप्ति की चेष्टा दुःख मूलक होती है। मनुष्य का मानसिक खिंचाव तबतक कम

नहीं होगा जबतक वह अपने अभिमान को अपने से बड़ी सत्ता के प्रति अर्पित करना नहीं सीखता।

परन्तु हम जिस सत्ता को अपने स्वत्व को अर्पित करते हैं उसके अस्तित्व में विश्वास होना आवश्यक है। जिस पदार्थ के कहने मात्र में हमे सन्देह है उस पर हमारी भावनाये, आशा में तथा सर्वोच्च चेष्टा मे कैसे आधारित की जा सकती हैं। डा० चार्ल्स युङ्ग के मत की सबसे बड़ी आलोचना यही है कि वे धर्म की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को तो बताते हैं परन्तु जिस तत्व की चर्चा धर्म करता है उसके अस्तित्व के विषय मे अपना निश्चयात्मक मत नहीं देते। वास्तव मे यह मत वैज्ञानिक विधि से दिया भी नहीं जा सकता। चार्ल्स युङ्ग ने यह बताया है कि भूत-प्रेत तथा देवी-देवता मनुष्य के शुभ-अशुभ भावों के आरोपण मात्र हैं। इसी प्रकार भगवान की खोज अपने व्यक्तित्व से बाहर करना वैज्ञानिक भूल है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जिस तत्व की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता हम जानते हैं, परन्तु जिसे वैज्ञानिक ढंग से हम सिद्ध नहीं कर सकते वह है ही नहीं। डिकार्ट ने कहा था कि हमे पूर्णता का विचार आता है। परन्तु यह पूर्णता हम अपने मे नहीं देखते, अतएव यह कहीं बाहर होगा। यही परमात्मा के अस्तित्व का सबूत है। वास्तव मे यह गलत विचार था। जिस बात को हम अपनी बुद्धि से नहीं जान सकते कि हममे है उसका अस्तित्व हममें हो सकता है। उसे पहिचानने के लिये नये प्रकार की रीति अपनाई जाती है। इसे (प्रज्ञान) इन्टूशन कहा जाता है।

परमात्मा का अस्तित्व न तो विज्ञान से और न मनोविज्ञान से सिद्ध किया जा सकता है। मनोविज्ञान ऐसे विश्वास की आवश्यकता दर्शाता है। इसके अस्तित्व के लिये अपरोक्ष अनुभूति आवश्यक है। फिर यह अनुभूति मनोविज्ञान की क्रियाओं का आधार बन जाती है। मनुष्य की निश्चयात्मक बौद्धिक व्यापार का परिणाम नहीं है। यह मन की क्रियाओं के बन्द होने का परिणाम है। यहीं मनुष्य को योग की आवश्यकता होती है। चिन्तन-हमारा परिचय चंचल जगत और चचल मन की क्रियाओं से कराता है। योग स्थिरतत्व पर मनको दृढ़ करता है। इसके अस्तित्व मे विश्वास के बिना मनुष्य बौद्धिक स्थिरता नहीं पाता। यही परमात्मा की सत्ताका मनोवैज्ञानिक प्रमाण है।

विचारों का प्रभाव

प्रत्येक व्यक्ति के विचार उसके आस-पास के लोगों को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व जितना दृढ़ होता है, वह दूसरों को अपने विचारों से उतना ही प्रभावित करता है। मनकी कमजोर अवस्था में हम शीघ्र ही दूसरों के विचारों से प्रभावित हो जाते हैं। रोगी के मन पर उसके आस पास रहनेवाले व्यक्तियों के विचारों का अनिवार्यतः भारी प्रभाव पड़ता है। यदि आस-पास रहनेवालों के विचार भले हैं, तो रोगी शीघ्रता से स्वास्थ्य-लाभ कर लेता है; और यदि लोगों के विचार दूषित हैं, तो रोगी का रोग बढ़ जाता। कभी-कभी रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। रोगी को रोग से मुक्त करने के लिये शुभ और उदार विचारों की आवश्यकता होती है। क्रोध-जनित विचार, चाहे रोगी के मन में हों अथवा उसके आस-पास रहनेवाले व्यक्ति के, रोगी के लिये हानिकारक ही होते हैं। इसी प्रकार निराशाजनक विचार भी रोगी को जीवन से निराश बना देते हैं। क्रोध और निराशा एक दूसरे के पूरक हैं। जिस व्यक्ति को जितना ही क्रोध आता है, उसे निराशा भी उतनी ही अधिक होती है।

रोगी का मन निर्बल होता है। अतएव बुरे विचार सरलता से उसके मनमें पैठ जाते हैं, और कठिनता से बाहर निकलते हैं। कभी-कभी निराशा-जनक विचार जान-बूझ कर वातावरण में रहनेवाले व्यक्ति से ग्रहण कर लिये जाते हैं, और अनजाने ही ऐसे विचार रोगी के मनमें प्रवेश कर जाते हैं। अपने सम्बन्धियों तथा सेवा करनेवालों के विचारों से रोगी बहुत प्रभावित होता है।

मान लीजिये कि अपने घर में कोई सम्बन्धी बीमार पड़ा है। उसकी अस्वस्थता की दशा में हम किसी व्यक्ति के प्रति अन्याय कर बैठते हैं, अथवा उसके प्रति क्रोध दिखाते हैं। इस काम से अनेक प्रकार के अवाञ्छनीय विचार हमारे मनमें उत्पन्न हो जाते हैं। इन विचारों के कारण हम रोगी को सन्निर्देश देने में असमर्थ हो जाते हैं, और रोगी हमारे बिगड़े हुये विचारों को हमसे ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह जीवन से निराश हो जाता है। कभी-कभी हमारे इस प्रकार के विचार रोगी के लिये घातक सिद्ध होते हैं।

बालकों के ऊपर माता-पिता के, अथवा बुरे विचारों का प्रभाव बड़ी शीघ्रता से पड़ता है। देखा गया है कि ऐसे माता-पिता, जिनके विचार सदा निर्दयता-पूर्ण रहते हैं, के बच्चे मर-मर जाते हैं। कभी-कभी हमारे क्रुद्ध होने से घर का नन्हा-सा बच्चा तुरंत ही बीमार पड़ जाता है। इसका अनुभव लेखक को हाल ही में हुआ। लेखक के पास उसका भतीजा नाई के एक लड़के को साथ लेकर घर

से आया। उसके कुछ अनुचित कार्य के लिये उसे दोनों पर क्रुद्ध होना पड़ा, पर नाई के लड़के पर क्रोध करना उचित न था। इसके थोड़े समय बाद ही लेखक की एक वर्षीया बालिका बीमार हो गई। उसकी बीमारी उस समय तक बनी रही, जब तक भूल की आत्म-स्वीकृति नहीं की गई।

लेखक के एक मित्र की स्त्री का हाल ही में देहान्त हो गया। वह कुछ दिनों से बीमार थी, परन्तु इस काल में इन मित्र के विचार भी बहुत ही बिगड़े हुये थे। वे उच्च पद पर हैं, और उनकी सहन-शीलता इस समय बहुत ही कम हो गई थी। उन्होंने क्रोधावेश में एक परीक्षार्थी को साधारण भूल के लिये परीक्षा देने से वंचित कर दिया था। जब से यह घटना घटित हुई, तभी से उनकी स्त्री का रोग बढ़ता गया, और अन्त में उसका देहान्त भी हो गया।

प्रत्येक प्रकार के रोग की उत्पत्ति के तीन कारण होते हैं, शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक। शारीरिक विकार रोग का शारीरिक कारण, मानसिक विकार रोग का मानसिक कारण और आध्यात्मिक पतन रोग का आध्यात्मिक कारण होता है। किसी भी प्रकार का अनाचार अथवा दुराचार मनुष्य की इच्छा-शक्ति को निर्बल बना देता है। इस कारण कोई भी रोग व्यक्ति को सरलता से पकड़ लेता है। जब रोगी के द्वारा दान-पुण्य कराया जाता है, और आत्म-शुद्धि की जाती है, तो उसके जीवन में आध्यात्मिक सुधार हो जाता है। इससे रोगी का रोग छूट जाता है। उसकी चिकित्सा उचित रूप से होने लगती है, और मानसिक अवस्था वातावरण के अनकूल हो जाती है।

लेखक के एक वयो-वृद्ध मित्र हाल ही में अपने देहात के मकान से काशी आये। वे जिस समय काशी पहुँचे, उस समय उठ-बैठ भी नहीं सकते थे। उन्हें दो बार लू लग चुकी थी। अवस्था करीब ७६ वर्ष की होने के कारण एक ही महीने में दो बार बीमार पड़ने से वे हिल गये थे। उनके शरीर का रुधिर सूख गया था। वे अपने साथ एक डाक्टर तथा अपने लड़के और भतीजे को भी लाये थे। जब वे घर से चले थे, तो घर और गाँव के लोगों ने उनसे अन्तिम विदाई ले ली थी। उनके बड़े भाई हाल ही में मर चुके थे। लोगों को इनकी शारीरिक दशा देख कर ऐसा लगता था, कि वे अब नहीं बचेंगे। अतएव काशी में ही उनका देहावसान होना अच्छा समझ कर, उनके डाक्टर ने भी स्थान परिवर्तन में अपनी स्वीकृति दे दी थी। पर काशी पहुँचते ही उनके आस-पास का मानसिक वातावरण बदल गया। पहले उनके मनमें मृत्यु के विचार आने लगे थे, किन्तु अब इन विचारों का भी अंत हो गया। वह दस-बारह दिन में चलने फिरने लगे, और अब उन्होंने पर्याप्त स्वास्थ्य लाभ कर लिया है। एक

दिन, जब ये बीमार ही थे, लेखक ने उनसे कहा था कि काशी में जो आता है, उसका जीवन-काल बढ़ जाता है। आशा-मय विचार हो जाने से मनुष्य का जीवन-काल स्वतः ही बढ़ जाता है। जो व्यक्ति मृत्यु के लिये पूरी तैयारी कर लेता है, और मृत्यु से नहीं डरता, वह भी अपने जीवन-काल को बढ़ा लेता है। इससे मनुष्य में त्याग-बुद्धि आ जाती है, और उसकी बहुत-सी मानसिक परेशानियों का अन्त हो जाता है। परिणाम-स्वरूप उसका मानसिक बल बढ़ जाता है।

प्रायः प्रत्येक व्यक्ति मरने के पूर्व निराशा वादी हो जाता है। वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है। उसका बाहरी मन तो संसार में फँसा रहता है, पर अव्यक्त मन उससे छुटकारा पाना चाहता है। उस अवस्था में मनुष्य के समक्ष इतनी समस्यायें एक साथ आ जाती हैं, कि वह इनसे छुटकारा पाने के लिये मृत्यु का आवाहन करने लगता है। यदि वह इस समय सांसारिक झंझटों से मुक्त हो जाय, तो उसकी आयु बढ़ जाती है, वर्ना आंतरिक मन की मृत्यु की इच्छा किसी-न-किसी प्रकार पूरी हो जाती है।

आत्म-निर्देश

आत्म-निर्देश एक बहुत बड़ी शक्ति है। इसके द्वारा हम अपने तथा दूसरों के स्वभाव को बदल सकते हैं। किसी व्यक्ति का स्वस्थ या रोगी होना बहुत अंशों तक आत्म-निर्देश पर निर्भर है। अकल्याणकारी निर्देश से हम अपने को रोगी और कल्याणकारी निर्देश से स्वस्थ बना सकते हैं। लेखक के एक मित्र को अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सन्देह था। यथार्थतः वे सर्वथा स्वस्थ थे, किन्तु वे सदा यह सोचते कि हमें यक्ष्मा हो गया है। अन्त में उन्हें यक्ष्मा हो गया और दो वर्ष तक अस्पताल में रहना पड़ा। किसी रोग के विषय में बार-बार चिंतन करने से वह रोग होकर रहता है।

बहुत से व्यक्ति अकल्याणकारी और दुःखपूर्ण आत्म-निर्देश-द्वारा अपना जीवन दुःखी बना लेते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज के लिये भार-स्वरूप होते हैं। जो व्यक्ति अपने को कोशता रहता है, वह अपने आपको ही नहीं, दूसरे को भी नीचे गिराता है। यदि हम प्रसन्न हैं, तो दूसरों को भी प्रफुल्लित बना सकते हैं, और मनहूस रहते हैं तो दूसरों को भी, जो हमारे सम्पर्क में आते हैं—दुखी बनाते हैं। सुखी व्यक्ति ही समाज की सेवा कर सकता है। इसीलिये शेक्सपीयर ने एक जगह कहा है कि, जो व्यक्ति सदा मनहूस रहता है उसे मच्छड़ से परिपूर्ण अन्धकार-मय कमरे में बन्द कर देना चाहिये, क्योंकि ऐसा व्यक्ति बाहर रह कर समाज का बड़ा अहित कर बैठता है। 'महात्मा 'हिमसन' का कहना है, कि साधारण लोग अपने कार्यों से समाज की सेवा करते हैं, परन्तु महात्माओं के सम्पर्क मात्र से समाज उपकृत हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि महात्माओं के सम्पर्क में आते ही प्राणी के विचार शान्ति-मय हो जाते हैं। वह उनसे शीघ्र प्रभावित हो जाता है। यदि वे चुप रहें, तो भी उनकी मौन-भाषा काम कर जाती है। उसका प्रभाव कल्याणकारी और स्थायी होता है। यदि कोई व्यक्ति सज्जन है, तो उसकी सज्जनता और अच्छाई अपने आप फूट पड़ती है। उसे परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती, और न वह किसी का छिद्रान्वेषण ही करता है। सज्जनता की सबसे बड़ी पहचान यह है, कि वह व्यक्ति को सुखी और सन्तुष्ट बना देती है। भला व्यक्ति अपने आप को भाग्यशाली समझता है; और धीरे-धीरे वह वैसा ही हो जाता है, जैसी उसकी आत्मा की आवाज होती है। उसी की पुकार हम बाह्य प्रकृति में सुनते हैं। यदि हम अपने को दुःखी समझने लगें, तो चारों ओर से हमें वही आवाज सुनाई पड़ने लगती है। किसी ने कहा है कि यह संसार एक बड़े दर्पण की तरह है। यदि हम हँसते हैं, तो इसमें हमारा चेहरा

हँसता हुआ दिखाई देता है। यदि क्रोधित होते या नाक-भौं सिकोड़ते हैं, तो वैसाही विकृत चित्र सामने आता है। जैसा हम अपने को सोचते हैं उसका वैसा ही प्रभाव अपने को हर जगह मिलता है। छोटे-छोटे दुःख भी पहाड़ की तरह दिखाई पड़ते हैं। दूसरे लोग भी हमारे बारे में वही सोचने और कहने लगते हैं, जैसा कि हम स्वयं अपने बारे में धारणा बनाते हैं। सहानभूति दिखाने वालों से दूर ही रहना अच्छा है। वे सदा यही कहते रहते हैं, कि संसार वाले तुम्हारे साथ अन्याय कर रहे हैं। सच-मुच तुम बहुत दुखी हो, आदि। वे सच-मुच हमें वैसा ही बना देते हैं। हम सोचते हैं कि वे हमारा भला करते हैं, पर वास्तव में वे बहुत हानि पहुँचाते हैं। वे हमारी कमजोरियों पर बार-बार ध्यान देकर उसे महत्व देते हैं। दुःख का निर्देश कर ऐसे सहानुभूति दिखाने वाले हमें सच-मुच ही दुखी बना देते हैं। फिर हम अपने को सबसे अभागा समझने लगते हैं। अतः ऐसी सहानुभूति दिखाने वालों से सदा दूर ही रहना चाहिये। उसी से बातें करनी चाहिये, जो हमें सदा उत्साहित करता रहे, और हमारे साधारण गुणों की प्रशंसा करके हमें आगे बढाने के लिये प्रोत्साहन देता रहे।

मनुष्य का एक विचित्र स्वभाव है। वह चाहता है कि लोग उसे अच्छा कहें। उसे अपने अच्छेपन पर विश्वास भी तभी होता है, जब लोग उसे अच्छा कहते हैं। पर वह यह नहीं सुनना चाहता कि लोग उसे सुखी कहें। वह यह कभी पसंद नहीं करता कि लोग उसे खराब कहें, पर वह बहुत आसानी से यह मान जाता है कि वह बहुत दुखी है। पर ये बातें कितनी विरोधी हैं। जो अच्छा है, वही सुखी है, और जो बुरा है, वही दुःखी है। अच्छे होने का स्रोत आत्मा की प्रसन्नता है। अच्छा होना त्याग की अपेक्षा करता है; पर उस त्याग का कोई मूल्य नहीं, जो कष्ट से किया जाय। इस प्रकार का त्याग किसी गुण की वृद्धि नहीं करता। जो गुणी और धार्मिक है, वही अपने को बड़ा भाग्य शाली समझता है।

हर-एक मनुष्य को अपने को बड़ा भाग्य-शाली समझना चाहिये, चाहे बाह्य स्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल। एक विक्षिप्त आदमी के बारे में यह कहानी प्रसिद्ध है, कि एक दिन एक सनकी मिठाई बाँटने लगा। जब लोगों ने इस खुशीका कारण पूछा, तो उसने कहा कि, मेरा घोड़ा चोरी चला गया। लोगों को और आश्चर्य हुआ। तब उसने कहा कि कहीं मैं घोड़े पर होता, तो मैं भी चोरी चला गया होता। मैं बच गया, इसी की खुशी में मिठाई बाँट रहा हूँ। यह एक पागलपन की बात मालूम होती है। पर इस सत्य की ओर निर्देश करती है, कि मनुष्य यदि चाहे तो अपनी हानि पर भी हँस सकता और खुशियाँ मना

सकता है। सच पूछा जाय तो ऐसा ही व्यक्ति विवेकी होता है। वह यह कहकर अपने को सान्त्वना दे सकता है कि इससे बुरा तो नहीं हुआ।

हम लोग अपने को भाग्य-शाली समझ कर अपना उत्थान कर सकते हैं। यदि हम अपने को सदा अभागा और दुःखी ही सोचते रहें, तो हमारी शक्ति समाप्त हो जायगी, और उसका स्रोत सुख जायगा। जो व्यक्ति अपने को दु.खी ही समझता है, वह कभी कोई रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता। अपनी शक्ति का ह्रास करके वह अपने आपको और भी दु.खी बनाता है। जो व्यक्ति अपने को दु खी समझता है, वह दूसरों से जला करता है। वह दूसरों की उन्नति और बढ़ती को नहीं देख सकता। ऐसे व्यक्ति दूसरों को सुखी देखकर केवल दुःखी ही नहीं होते बरन् उसे दुःख पहुँचाने की चेष्टा भी करते हैं। इससे उनका कुछ स्वार्थ साधन भी नहीं होता। ऐसे लोग प्रसन्न-चित्त व्यक्ति को चरित्र-हीन समझने लगते हैं।

इच्छा-शक्ति का केन्द्रीकरण न कर सकने के कारण ही मनुष्य अपने को दु·खी बनाता है। हमारा मन इधर-उधर दौड़ता है। दूसरों के विचारों को हम सोचते हैं। यदि दूसरे हमें सुखी समझते हैं, तो हम अपने को वैसाही समझ बैठते हैं। दूसरों के विचारों के साथ न बहने की शक्ति प्राप्त कर लेने पर मनुष्य सुख, उत्थान और स्वास्थ्य लाभ कर सकता है। दूसरे व्यक्ति हमारी बाह्य आत्मा को देख सकते हैं; भीतर क्या है, इसे कभी नहीं देख सकते। जब ऐसी बात है, तब दूसरों की विचार-धारा के साथ बह जाना कितनी बड़ी बेवकूफी है।

आत्म-निर्देश की शक्ति की वृद्धि के लिए इस बाह्य संसार से अपने मन को हटाकर अपने बारे में सोचना चाहिये। जो मनुष्य दूसरों की चापलूसी और चाटु-कारिता की अपेक्षा करता है, उसे दूसरों के कटु वाक्यों को भी सुनने के लिये तैयार रहना चाहिये। आत्म-निर्देश को शक्ति-शाली बनाने के लिये यह बहुत ही आवश्यक है, कि मनुष्य बाहरी क्षणिक लाभ को छोड़कर अपने मन को वश में करने की सोचा करे। प्रति दिन इस प्रकार करने से इच्छा-शक्ति थोड़े ही दिनों में एक अपूर्व परिवर्तन का अनुभव देने लग जाती है। ऐसा करने से इच्छा शक्ति बलवती होती है; और ऐसे व्यक्ति का आत्म-निर्देश कभी भी वृथा नहीं जाता।

सहजावस्था की शक्ति

डाक्टर विलियम ब्राऊन का कथन है कि मनुष्य के मन में उससे कहीं अधिक शक्ति है, जितनी का हमें ज्ञान रहता है; अथवा जितनी से हम काम लेते हैं। ये शक्तियाँ आत्म-विश्वास से और मन में रचनात्मक कल्पनाएँ लाने से बढ़ जाती हैं। ये सभी शक्तियाँ शान्तभाव अथवा सहजावस्था की शक्तियाँ हैं। मनुष्य की शक्तियों का विनाश भय, चिन्ता, और उद्विग्नता से हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अपनी ही मानसिक शक्तियों में विश्वास नहीं होता। वह हर-एक बात में संशय करने लगता है। मनुष्य जो कुछ भी विचार करता है, वह अपना संस्कार मन के ऊपर छोड़ जाता है। हर एक प्रकार के संकल्पों में अपने आप ही फलित होने की शक्ति रहती है। सहजावस्था में आये हुए संकल्प अवश्य फलित होते हैं। संकल्प के कारण एक ओर मनुष्य की मानसिक परिस्थिति बदलती है, और दूसरी ओर वाह्य प्रकृति में भी तदनुकूल परिवर्तन हो जाता है। जो व्यक्ति जितनी ही दृढ़ता से बिना संदेह के किसी बात को मन में लाता है, वह उस बात को करने में उतना ही सफल होता है। असाधारण बातों को करने में भी वह सफल हो जाता है।

सहजावस्था की शक्ति को कभी-कभी आत्म-निर्देश की शक्ति कहा जाता है। इसके द्वारा मनुष्य के अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं। स्वस्थ पुरुषों में भी इसके अभ्यास से असाधारण मानसिक शक्तियों का विकास हो जाता है। सहजावस्था के अभ्यास से जिस शक्ति का हम अपने आप में अभाव पाते हैं, वह भी हम में आ जाती है। इस प्रसंग में विलियम ब्राऊन के निम्नलिखित आदेश अत्यन्त उपयोगी हैं। 'यदि कोई व्यक्ति बिस्तर पर लेटे-लेटे मानसिक और शारीरिक शैथिलीकरण की अवस्था में अपनी मानसिक शक्तियों में किसी प्रकार के सहजभाव से संकल्प करता है, तो ये संकल्प उसकी गुप्त मानसिक क्रियाओं के द्वारा पूर्ण होते हैं; और इस प्रकार वह चित्त की एकाग्रता, स्मरणशक्ति और किसी विशेष प्रकार की योग्यता को बढ़ा सकता है। वह अपनी किसी बुरी आदत को सरलता से सुधार सकता है, और अपने आत्म-विश्वास को तथा आत्म-नियन्त्रण को बढ़ा सकता है। इस प्रकार के अभ्यास का प्रारम्भ किसी दूसरे जानकार व्यक्ति-द्वारा हो सकता है, अथवा वह स्वयं इस अभ्यास को कर सकता है। इस विधि से मनुष्य के आन्तरिक खिचाव और मानसिक शक्तियों के कार्य करने में गुप्त बाधाएँ हट जाती हैं, और उसमें स्फूर्ति और आत्म-चेतना आ जाती है। इससे अवचेतन मन में स्थित संशय और

भय नष्ट हो जाते हैं और मन के गंभीरतम भाग से आनेवाली रचनात्मक शक्ति का मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार किसी भी कला के सीखने में हतोत्साह नष्ट हो जाता है, और निराश व्यक्ति अपने आप में फिर से विश्वास करने लगता है। इस अभ्यास से सफलता की कल्पना बढ़ती है, और यह कल्पना नियंत्रित और एकमुखी हो जाती है। इसके कारण मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति को किसी विशेष ओर लगा लेता है। यदि कोई मनुष्य इस अभ्यास को कई दिनों तक करते रहे, तो वह अपने सम्पूर्ण स्वभाव को ही बदल सकता है और वह अपने आपको आत्म-संताप और चिन्ता में खोये व्यक्ति से बदल कर दृढ़ निश्चय और शान्त आत्म-विश्वास का व्यक्ति बना सकता है।

उक्त सहजावस्था के अभ्यास से डाक्टर विलियम ब्राऊन ने धूम्र-पान की अपनी पुरानी आदत को एक ही बार के निर्देश से छुड़ा दिया। मनुष्य जितना ही अधिक सहजावस्था में आता है, अपनी मानसिक शक्ति को बढ़ाने में वह उतना ही समर्थ होता है। इस अवस्था में आने पर कुछ असाधारण मानसिक शक्तियाँ भी मनुष्य के मन में जाग्रत हो जाती हैं। इस अवस्था में आने पर मनुष्य की स्मृति इतनी अधिक बढ जाती है, कि वह कई वर्ष पुरानी बातों को सरलता से याद कर लेता है। सहजावस्था में याद किया गया पाठ देर तक याद रहता है। हमारे स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों को यह बताना नितान्त आवश्यक है, कि हम जो कुछ पढ़ते-सुनते अथवा लिखते और सोचते हैं, उन सब बातों के संस्कार हमारे मन में रह जाते हैं; और समय आने पर वे हमें याद आ जाते हैं। जो लोग अपनी स्मरण-शक्ति के बारे में शिकायत करते रहते हैं, उनमें प्रायः दूसरी बातों में भी आत्म-विश्वास का अभाव पाया जाता है। उनका मन सदा भय, चिन्ता और संशय का घर बना रहता है। ये ही उनकी स्मरण-शक्ति का विनाश करते हैं। उनके मन में अनुभूत बातों के संस्कार रहने पर भी वे समय पर उन बातों को भूल जाते हैं। इसका कारण उन बातों का चेतना की सतह पर आने में रुकावट पड़ जाना है। रुकावट डालनेवाली वस्तु संशय और भय ही रहते हैं। जो विद्यार्थी निर्भीक बनकर परीक्षा में बैठते हैं, वे भय-युक्त विद्यार्थियों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता पाते हैं। स्मरण करते समय जो व्यक्ति जितना ही शान्त मन होगा, वह उतना ही अधिक स्मरण करने में समर्थ होगा।

मनुष्य की संकल्प-शक्ति का बल उसकी सहजावस्था के अभ्यास के ऊपर निर्भर है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सहजावस्था का अभ्यास करता है, वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहने में उतना ही समर्थ होता है। संकल्प ही वास्तविकता

में परिणत हो जाता है। बहुत से लोग अपने संकल्पों को सदा बदलते रहते हैं। उनका मन किसी बात पर स्थिर ही नहीं रहता। इसके कारण वे जीवन में कोई बड़ा काम नहीं कर पाते। स्वार्थ-परायणता की वृद्धि ही संकल्पों के बदलते रहने का कारण है। स्वार्थ के कारण मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के संकल्प उठते हैं, और फिर एक संकल्प दूसरे के लिये बाधक बन जाता है। वह संशय का रूप धारण कर लेता है। जब मनुष्य के जीवन का उद्देश्य ऊँचा हो जाता है, तो उसके संकल्पों का आपस का विरोध मिट जाता है। उसे अपने संकल्पों के चरितार्थ होने में सन्देह नहीं रह जाता। जिस व्यक्ति के संकल्प दृढ़ हैं वह किसी भी ओर लगन के साथ काम करता है।

सहजावस्था के समय मनुष्य के मन में असाधारण शक्तियों का उदय हो जाता है। यदि सहजावस्था के समय कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मन की बात अथवा दूर की घटनाओं को जानना चाहे; तो वह उन्हें जान लेता है। जब इस प्रकार के ज्ञान का सम्बन्ध व्यक्तिगत हानि-लाभ से रहता है; तो वह ज्ञान नहीं होता। व्यक्तिगत हानि-लाभ की अवस्था में मनुष्य का मन क्षुब्ध रहता है; अतएव किसी प्रकार के असाधारण ज्ञान में विश्वास ही नहीं होता। साधु-सन्तों को इस प्रकार का ज्ञान अनायास हो जाता है। उनका मन स्वार्थ-भाव से व्याप्त नहीं रहता; अतएव ये असाधारण शक्तियाँ उन्हें अनायास आ जाती हैं। सन्त लोग केवल स्पर्शमात्रसे आधि-व्याधियों को नष्ट कर देते हैं। सन्तों की सबसे बड़ी देन मनुष्य को उनके मन में निहित शक्ति का ज्ञान कराना है। इस ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य दु:खी और दीन रहता है।

मनुष्य की साधारण चेतना सहजावस्था से भिन्न है। कभी-कभी यह चेतना भी सहजावस्था को प्राप्त कर लेती है। योगाभ्यास का उद्देश्य इसी अवस्था को प्राप्त करना है। कितने ही मनुष्यों को दो प्रकार की चेतनाएँ रहती हैं, एक व्यक्तिगत चेतना, और दूसरी दैवी चेतना। सेन्ट कैथरिन को इस प्रकार की चेतना प्राप्त हो गई थी। जान आफ आर्क को भी यह चेतना प्राप्त हुई थी। इस अवस्था में आकर उसने फ्रान्स के राजा को बताया, कि अमुक स्थान में एक तलवार गड़ी हुई है। उस तलवार को लेकर यदि वह एक सेना को ले जायेगी तो अवश्य ही देश के आक्रमणकारियों को निकाल बाहर करेगी। एक पुराने गिरजाघर में वह तलवार गड़ी हुई थी। गिरजाघर की भूमि खोदने पर वह तलवार सचमुच में निकली। बहुत समय तक उसने सेना का संचालन किया। स्वयं उसने किसी भी आदमी को नहीं मारा, परन्तु उसकी उपस्थिति मात्र से फ्रान्स के सैनिकों में नया जोश आ जाता था; और दुश्मन हताश हो जाते थे।

वास्तव में यह कार्य उसकी अलौकिक चेतना का था। बार-बार इसके काम में ले आने से और व्यक्तिगत अभिमान हो जाने से उस चेतना से जोन का संपर्क छूट गया; और फिर साधारण-सी बात से उसका पतन हो गया। हजरत ईशा को भी इसी प्रकार असाधारण शक्ति प्राप्त हो गई थी। यह उनके समाधि-प्राप्ति के अभ्यास का परिणाम था। जब उनके असाधारण कार्यों की ख्याति देश-देशान्तरोंमें फैल गई, तो वही विनाशका कारण बन गई।

मनुष्य की असाधारण सफलता सहजावस्था की प्राप्ति का परिणाम है। इस अवस्था में उसकी साधारण चेतना नहीं; अपितु असाधारण चेतना कार्य करने लगती है। जब कोई व्यक्ति इस असाधारण चेतना का स्वयं अभिमान करने लगता है, तो अनेक प्रकार की भूलें फिर उससे होने लगती हैं; और वह अपने आपका विनाश कर डालता है। असाधारण शक्तिको प्रदर्शित करने का मूल्य उसे चुकाना पड़ता है। शक्ति का प्रदर्शन सहजावस्था का विनाशक है। सहजावस्था अभिमान के विनाशसे ही प्राप्त होती है। जब मनुष्य शक्ति का प्रदर्शन करने लगता है, तो उसे उसका अभिमान हो जाता है। फिर वह न अपना और न दूसरों का कोई लाभ करने में समर्थ होता है। संसार के महान पुरुषोंकी असाधारण मानसिक शक्ति के उदय और उसके लुप्त हो जाने का यही रहस्य है। जो व्यक्ति अपने अहंभाव को, अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को, जितना ही हटाने में समर्थ होता है, वह उतना ही सहजावस्था को प्राप्त होता है और उतनी ही अधिक असाधारण प्रतिभा और दूसरी मानसिक शक्तियाँ उसमे स्फुरित हो जाती हैं। परन्तु व्यक्तिगत आशायें, इच्छायें और अहंभाव देर तक दूर नहीं रहते। ये फिर से जागरित हो ही जाते हैं। इनके जागने पर मनुष्य की मानसिक उद्विग्नता बढ़ जाती है, और फिर वह सहजावस्था में प्राप्त शक्तियोंको खो देता है।

सहजावस्था में मनुष्य साधारण व्यक्ति नहीं रहता, वह असाधारण व्यक्ति बन जाता है, और उसकी मानसिक शक्तियाँ भी असाधारण हो जाती है। इस अवस्था का अभ्यास कोई भी व्यक्ति कर सकता है। प्रतिदिन शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास से यह अवस्था प्राप्त हो जाती है। 'मैत्री-भावना' और 'आनापानसति' का अभ्यास इस अवस्था की प्राप्ति में सहायक होते हैं। जब सहजावस्था स्थिर हो जाती है, तो सभी काम करते हुए सभी अवस्थाओं में वह बनी रहती है। फिर मनुष्य अपने आपको एक महान चेतना का क्षेत्र मानकर काम करते रहता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक इस भाव में आकर काम करता है, वह अपनी मानसिक शक्तियों को उतना ही अधिक विकसित करता है।

मन की शक्ति बढ़ाने के उपाय

मनुष्य के मन में कितनी शक्ति है, इसका अंदाज लगाना अत्यन्त कठिन है। शरीर से एक मनुष्य दूसरे के समान ही होता है, परन्तु मन से एक मनुष्य तृण के समान और दूसरा पहाड़ के समान हो सकता है। आज तक हम भगवान बुद्ध, कृष्ण, कबीर, और नानक के विचारों से प्रभावित हैं। भगवान बुद्ध ने सभ्यता का रूप ही बदल दिया था। लूथर ने यूरूप में क्रान्ति पैदा कर दी। यह धार्मिक क्षेत्र से बढ़कर सामाजिक और राज नैतिक क्षेत्रों में फैल गई। एक कार्ल मार्क्स ने हजारों राजाओं और पूंजी-पतियों को धूल के समान उड़ा दिया। महात्मा गाँधी की साधना ने अंग्रेजों को भारत वर्ष से हटा दिया। जिस राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था, वह देखते-देखते लुप्त हो गया।

मन में बल होने से मनुष्य में उत्साह रहता है। वह नये-नये काम करना चाहता है। उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। जिस व्यक्ति से वह बात करता है वही उससे प्रभावित होता है। ऐसा व्यक्ति न केवल अपने आप जीवन में सुखी रहता है, वरन् वह उसके समीप आने वाले दूसरे लोगों को भी अनायास ही सुखी बना देती। जिस प्रकार रोग संक्रामक है, उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य और प्रसन्नता भी संक्रामक है। बलवान मन का व्यक्ति दूसरे लोगों के मन में भय और निराशा के विचारों का प्रचार-न कर निर्भीकता और आशा के विचार फैलाता है। सभी लोग अपने आस-पास के लोगों के विचारों से प्रभावित होते हैं। वे जैसे होते हैं, अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों को उसी प्रकार का बना लेते हैं। अतएव बलवान मन का व्यक्ति संसार के लिये वरदान के रूप में है। वह जो कुछ करता है, उससे समाज को लाभ ही होता है।

प्रत्येक मनुष्य बलवान मन का हो सकता है। जिस प्रकार थोड़ा-थोड़ा धन संचित करते-करते मनुष्य लखपति बन जाता है; उसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी विचार-शक्ति का संचय करने से मनुष्य महान् बल प्राप्त कर लेता है। हम अपने विचार की शक्ति का ह्रास अपने अनजाने ही कर डालते हैं। कितने ही लोग अपने भौतिक धन की रक्षा की तो बहुत चिन्ता करते हैं, परन्तु अपने आध्यात्मिक धन की रक्षा की कोई चेष्टा नहीं करते। जिसका आध्यात्मिक धन नष्ट हो जाता है, उसका भौतिक धन भी उसके पास नहीं ठहरता। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य भौतिक धन की चिन्ता में न पड़ कर आध्यात्मिक धन को बढ़ाने की सबसे अधिक चिन्ता करता है। हमारा मानसिक बल इसी लिये कम हो जाता है, क्यों कि हम उसका मूल्य ही नहीं जानते। माता-पिता भी बालक को भौतिक धन

कमाने की शिक्षा देते हैं, आध्यात्मिक धन कमाने की शिक्षा नहीं दी जाती। यही कारण है कि हमारे सुशिक्षित नवयुवक जीवन में दुःखी ही रहते हैं।

मन की शक्ति का विनाश, मन में अनुपयोगी विचार आने से होता है। इन विचारों को रोकना हमारा पहला कर्त्तव्य है। भगवान बुद्ध का कथन है, कि 'प्रत्येक विवेक-शील व्यक्ति को अपने मन के दरवाजे पर एक पहरुआ के समान विचारों की छान-बीन करने वाला विवेक बैठाल देना चाहिये। किसी भी विचार को बे-रोक-टोक मन-मन्दिर में घुसने न देना चाहिये। हम अपने पार्थिव घर में तो हर-एक व्यक्ति को नहीं जाने देते, परन्तु अपने आध्यात्मिक घर में सभी को चले जाने देते हैं। कितने ही अभद्र विचार हमारे अनजाने मन में घुस जाते हैं, और हमारे आध्यात्मिक धन को चुरा ले जाते हैं। दूसरे के प्रति द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध तथा लज्जा-भ्रम के विचार मन की शक्ति को नष्ट कर देते हैं। ऐसे विचारों को मन में न आने देना चाहिये।

मनुष्य की मानसिक शक्ति का सब से अधिक ह्रास भय और चिन्ता के कारण होता है। जो मनुष्य जितना ही डरता है, वह उतना ही कमजोर मन का हो जाता है। चिन्ता करना भी भय को मन में स्थान देना है। चिन्ता दवा हुआ भय है। मन की दुर्वल अवस्था में भय आते हैं, और भय के आने से मन और भी दुर्वल हो जाता है। भय का चाह से अनिवार्य सम्बन्ध है। जिस मनुष्य की चाह जितनी प्रवल होती हैं, उसका भय भी उतना ही अधिक होगा। जब तक मनुष्य चाह को नहीं छोड़ता तब तक उसके भय और चिन्ता नहीं जाते। जिस मनुष्य की इच्छायें प्रवल होती हैं, उसमें न्याय-अन्याय, सत्-असत् का ज्ञान नहीं रहता। वह अपनी इच्छा को छिपाने के लिये भी अनेक प्रकार के उपाय करता है। इससे उसको चिन्ता रहती है, कि कहीं उसका वास्तविक हेतु प्रकट न हो जाय। इस प्रकार भय मनुष्य के मन को निर्वल कर देता है। जो व्यक्ति जितना ही भविष्य के विषय में कम सोचता है, वह उतना ही निर्भीक रहता है; और उसकी इच्छा-शक्ति उतनी वलवती होती है।

मन का वल कल्पनाओं के राज्य में रहने से घटता है, और सिद्धान्तों के प्रतिपादन से बढ़ता है। जिस मनुष्य के जीवन का कोई सिद्धान्त नहीं है, जो केवल धन कमाने अथवा विषय-भोग के लिये ही जीता है, वह कभी भी वलवान मन का नहीं हो सकता। मन का वल त्याग और तप से ही बढ़ता है। परन्तु यह तप और त्याग दिखावटी न होकर सच्चा होना चाहिये। इस प्रकार का त्याग जीवन के सच्चे मूल्यों को पहचानने से आता है। जिस व्यक्ति का मन ज्ञान-विज्ञान में लगा है, जो किसी निश्चित लक्ष्य का सदा चिन्तन करते रहता

है, वही बली मन का होता है। मन का बल उस विषय पर निर्भर है, जिसका चिन्तन मन करते रहता है। यदि चिन्तन का विषय अस्थिर है, तो मन निर्बल होगा, और यदि चिन्तन का विषय नित्य और ठोस है, तो मन भी दृढ़ होगा। इस दृष्टि से केवल सच्चे दार्शनिक, सच्चे कवि और सिद्ध सन्त के मन ही बलवान होते हैं।

मन का बल अभ्यास से बढ़ता है। यह अभ्यास रचनात्मक कार्य का अभ्यास है। जब मन निकम्मा रहता है, तब अनेक प्रकार की चिन्तायें हमें सताती हैं। इससे मन दुर्बल हो जाता है। काम में लग जाने से सभी प्रकार की चिन्तायें और कलुषित भाव मन से निकल जाते हैं। अपने और दूसरों के लिए कल्याण के कार्य मन को बली बनाते हैं। काम करने के हेतु जितने ऊँचे होते हैं, मन भी उतना ही अधिक बली होता जाता है। यदि हम केवल दूसरों के कल्याण का चिन्तन करें, तो अपना कल्याण अपने आप ही हो जावेगा। प्रकृति सभी की चिन्ता करती है। जो जितना ही अधिक अपने आपकी चिन्ता करता है, दूसरे लोग उसकी उतनी ही कम चिन्ता करते हैं, और जो दूसरों की सदा चिन्ता करता है, उसकी चिन्ता दूसरे लोग कर लेते हैं। सबके कल्याण में लगे रहना मन को बलवान बनाने का श्रेष्ठ उपाय है।

मन के बल को बढ़ाने के लिये अपने आपको भुलाना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने अहं-भाव को सदा लादे रहता है, वह दु:खी मन का रहता है। कितने ही लोग रास्ते में चलते-चलते सोचते रहते हैं कि दुनिया के लोग हमारे बारे में क्या सोचते होंगे। यदि सचमुच में देखा जाय, तो कोई भी उनके विषय में कुछ नहीं सोचता। किसको इतनी फुरसत है, कि वह हमारे बारे में सोचे। सभी लोग अपने-आपमें ही मस्त रहते हैं। अपनी चिन्ता सबको है। दूसरों की चिन्ता यदि उन्हें होती, तो वे कितने दिन जीते। दूसरों की राय का भय सदा मन में रखना निरी मूर्खता है। जो व्यक्ति दूसरों की प्रशंसा का सदा भूखा रहता है, वह किसी भी कार्य को भली प्रकार से नहीं कर पाता। दूसरों की राय का भय उसके मन को दुर्बल बना देता है। कितने ही लोग दूसरों की राय के भय के कारण पागल हो जाते हैं।

अपने आपको भुलाने का एक उपाय सर्व-व्यापी तत्व का नित्य-प्रति चिन्तन करना है। मनुष्य को धर्म की आवश्यकता अपने आपको शान्त बनाने के लिये है। जब तक मनुष्य ऐन्द्रिक सुखों में मन को फँसाये रहता है, तब तक वह बली मन का नहीं हो सकता। जिसके लिये ऐन्द्रिक सुख ही सब कुछ हैं, वह अपनी कल्पना के ऊपर नियंत्रण नहीं रख पाता। वह जब अपनी कल्पना का नियंत्रण

करने की चेष्टा करता है, तो इच्छा-शक्ति को और भी दुर्बल बना लेता है। कल्पना पर नियंत्रण न रहने पर वह अभद्र दिशाओं में जाती है, और अनेक प्रकार के अकारण भय उत्पन्न कर देती है। मानसिक रोगियों का मन बहुत ही दुर्वल होता है। उन्हें अकारण भय सताते हैं। इस प्रकार की दुर्वलता का कारण उनका पूर्वाभ्यास होता है। जब मनुष्य ऐन्द्रिक सुख की लत डाल लेता है, तो उसका मन उसके वश में नहीं रहता। फिर जब मन को एकाएक दबाने की चेष्टा की जाती है, तो मन हठवादी वन जाता है। उसमें अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें आने लगती हैं। कितने ही लोगों को अकेले रहने का अकारण भय रहता है। वे जब कभी अकेले छूट जाते हैं, तो इतनी घबड़ाहट का अनुभव करते हैं, कि ज्ञात होता है कि उनके हृदय की गति ही रुक जायगी। इस प्रकार की घबड़ाहट का कारण आन्तरिक मन में विषय की भूख है; जिनका दमन उनकी ही नैतिक बुद्धि उनके अनजाने कर रही है। जिस व्यक्ति को वास्तविक विषय-वैराग्य होता है, उसे किसी प्रकार के भय अथवा बाध्य-विचार नहीं होते। ऐसे व्यक्ति का मन बलवान होता है।

जब मन की अवस्था विभाजित हो जाती है, तो मन के विभिन्न भाग आपस में संघर्ष करके दुर्वल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य की कल्पनायें उनके वश में नहीं रहतीं। ऐसे लोगों को कभी-कभी हिस्टीरिया, छूत का रोग, आदि हो जाते हैं। जिस विचार से मनुष्य घृणा करता है, वही विचार बार-बार उसके मन में आता है। विभाजित अवस्था में मनुष्य ऊपरी मन से तपस्वी हो जाता है और भीतरी मन से वह विषय-लोलुप बना रहता है। वह जितना ही अपनी भोग-वासना को दमन करने की चेष्टा करता है, वह उतनी ही प्रवल हो जाती है। जब तक मन की यह अवस्था रहती है, तब तक मनुष्य को सदा अशान्ति ही बनी रहती है। वह अपने आप पर ही विश्वास नहीं कर पाता। उसके निश्चय सरलता से बदल जाते हैं।

इस अवस्था का अन्त करने के लिये मानसिक एकता उत्पन्न करना नितान्त आवश्यक है। इसके लिये मन के भीतरी भाग को जानना और उसका अपनी धर्म-बुद्धि से समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। जब मनुष्य अपने आपको, जैसा वह है वैसा ही, जान लेता है, और वैसा ही प्रसिद्ध करता है, तो उसकी मानसिक दुर्वलता नष्ट हो जाती है। जब मन में एक बार विभाजन की स्थिति आ जाती है, तो मन को वश में करना अत्यन्त कठिन होता है। जो व्यक्ति ऐसी अवस्था में आत्म-नियंत्रण की चेष्टा करते हैं, वे अपने मानसिक संघर्ष और मानसिक दुर्वलता को और भी बढ़ा देते हैं। मानसिक नियंत्रण वहीं सार्थक

होता है, जहाँ मानसिक ऐक्य पहिले से ही वर्तमान है।

कितने ही लोगों को अनेक प्रकार की बुरी आदतें लगी रहती हैं। वे अपने आपको इन आदतों से रोकना चाहते हैं, परन्तु उनके रोकने में असमर्थ रहते हैं। लेखक के एक संन्यासी मित्र को सिगरेट पीने की आदत है। वह इससे परेशान हैं। वे इससे मुक्त होने की चेष्टा करते हैं, परन्तु मुक्त नहीं हो पाते। एक युवक को हस्तमैथुन की आदत है। युवक इस आदत से मुक्त होने की चेष्टा करता है, परन्तु इससे मुक्त होने में असमर्थ है। इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता केवल बाहरी वस्तु से लड़ने से नहीं जाती है। इससे कभी-कभी अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। जब तक मनुष्य अपने अचेतन मन को भली प्रकार से नहीं जानता, और उसकी माँगों को ध्यान में रखते हुए अपना आचरण नहीं बनाता, तब तक उसका मन निर्बल ही बना रहता है। संसार को धोखा देना बुरा अवश्य है, परन्तु यह उतना बुरा नहीं है, जितना अपने आपको धोखा देना। संसार को धोखा देने पर हमें बाहरी दण्ड मिलता है, परन्तु अपने आपको धोखा देने से भीतर से ही दण्ड मिलता है। पहले दण्ड से बचना सरल है, परन्तु दूसरे दण्ड से बचना अत्यन्त कठिन है। अपने आपको धोखा देने से मानसिक दुर्बलता आती है, जो सभी प्रकार के दुःखों की जननी है।

मन को बली बनाने के लिये जो अभ्यास किये जा सकते हैं, उनमें एक महत्व का अभ्यास आत्म निर्देश का अभ्यास है। मन के शैथिलीकरण की अवस्था में जो विचार मनुष्य मन में लाता है, उसी के अनुसार उसके जीवन में परिवर्तन हो जाता है। अपने आपको शुभ निर्देश देने से मन बली होता है। परन्तु इन निर्देशों को सामान्य चेतनावस्था में देना लाभ-प्रद नहीं होता। मन की विभाजित अवस्था में, जब मन चिन्तायुक्त अवस्था में रहता है, शुभ आत्मनिर्देश अशुभ में परिणत हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये दूसरे व्यक्ति से शुभ निर्देश मिलें तभी अच्छा होता है। रोगी मनुष्य का कल्याण उससे रोग के विचार छुड़ाने से ही हो सकता है। जो व्यक्ति जितना ही रोग से मुक्त होने की चिन्ता करता है, वह अपने रोग को उतना ही बढ़ा देता है। इसके लिये रोग के अतिरिक्त दूसरे विचारों को मन में लाना चाहिये। रोग से भय न कर उससे मैत्री-भाव स्थापित करना, रोग से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। अपनी व्याधि को दूर करने का उपाय, दूसरे लोगों की व्याधि को दूर करने में अपने आपको लगाना है। चेतन मन के दूसरों के प्रति कल्याण के विचार अचेतन मन में जाकर आत्म-कल्याण में परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन मन के कल्याण के विचार जब रोगी के अचेतन मन में जाते हैं, तो वे रोग को बढ़ा देते हैं।

अतएव अपने आपको भला और समृद्धि-शाली बनाने का सर्वोत्तम उपाय, अपने विषय में चिन्ता न कर दूसरों के विषय में चिन्ता करना ही है। मन को बली बनाने का भी यही मार्ग है।

इच्छा-शक्ति का बल कल्पना और इच्छा-शक्ति के संघर्ष से घटता है। इच्छा-शक्ति मनुष्य के चेतन मन में कार्य करती है, और कल्पना का स्रोत मनुष्य के अचेतन मन में रहता है। जब कभी मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में संघर्ष उत्पन्न होता है, तो चेतन मन की ही हार होती है। जिस बात को मनुष्य अपने मस्तिष्क से हटाना चाहता है, वही बार-बार मस्तिष्क में आती है। ऐसी बात को हटाने के प्रयत्न से केवल इच्छा-शक्ति ही कमजोर होती है। कितने ही लोगों को गन्दगी के विचार बार-बार मन में आते हैं। वे इनको हटाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु वे और भी दृढ़ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य को गंदगी के विचारों को मन में पूरी तरह से आने देना चाहिये। जब इस प्रकार सभी प्रकार की गंदगी चेतन मन के समक्ष आकर प्रकाशित हो जाती हैं, तो कल्पना और इच्छा का संघर्ष समाप्त हो जाता है। जिस कल्पना से मनुष्य डरता है, वही उसके मन में बार-बार आती है। यदि अभद्र विचार मन में आते हैं, और हटाये नहीं हटते; तो उन्हें पूरी तरह से मन में आने देना चाहिये। इस प्रकार अपने मन का छिपा दोष नष्ट हो जाता है। इस दोष के नष्ट होने पर मनुष्य का मन शान्त हो जाता है; और उसकी इच्छा-शक्ति बलवती हो जाती है।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी प्रसुप्त वासनाओं को भली प्रकार से जाने, और उन्हें स्वीकार करे। अपने आपके विषय में अधिक गर्व रखनेवाला व्यक्ति न तो अपने आपको जानने की चेष्टा करता है, और न अपने दोषों को ही स्वीकार करता है। वह अपने आपसे ही भागता है। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। नीचे के स्तर की वासनायें वैसी ही आवश्यक हैं, जैसी कि ऊँचे स्तरकी वासनाएँ। सभी प्रकार की वासनाओं के समुच्चय से मनुष्य का व्यक्तित्व बना है। अपने पूरे स्वत्व को स्वीकार न करने के कारण ही मनुष्य का मनोबल घट जाता है, यदि हम जैसे हैं, वैसे ही अपने आपको जानें; तो हमारी इच्छाशक्ति बलवती बनी रहे। उसका बल दिन-प्रति-दिन बढ़ता रहे।

मानसिक आरोग्य में सत्य की महत्ता

मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य का मन किसी भी एक सिद्धान्त अथवा मत पर स्थिर नहीं रहता। उसका मन किसी काम में भी नहीं लगता। मनुष्य नहीं जानता, कि वह क्या चाहता है, और उसकी मानसिक परेशानी का क्या कारण है। अकारण भय, चिन्ता, अथवा उद्विग्नता उसे दुखी बनाये रखते हैं। रोग की अवस्था में मनुष्य का चित्त एकाग्र नहीं होता। पढ़ने-लिखने, खेलने-कूदने और मित्रों के साथ गप्प करने में भी मन नहीं लगता। कोई काम करने में उत्साह नहीं होता। मानसिक शक्ति का प्रवाह रचनात्मक दिशा में न होकर ध्वंसात्मक दिशा में होने लगता है। कितने ही लोग काम करते हैं, परन्तु काम में कोई आनन्द नहीं मिलता। बाल-बच्चों को गोद में लेने की पहले तो इच्छा ही नहीं होती, और यदि लिया भी जाय, तो उन्हें इस कार्य में आनंद नहीं आता। मन सदा अशान्त बना रहता है। वह अपने में कमी की अनुभूति करता है, परन्तु किस बात की कमी है, इसका ज्ञान उसे नहीं रहता।

इस प्रकार की स्थिति का कारण खोजने पर पता चलता है, कि धोखे में आकर मनुष्य का मन सुख का दास हो गया है। सुख की खोज उसे उचित-अनुचित के प्रति अन्धा बना देती है। सुख की खोज में वह सत्य को भुला देता है। सत्य स्थिर है, और सुख अस्थिर। सत्य का ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन में स्थिरता आती है, और सुख का ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन में अस्थिरता का आना स्वभाविक ही है। जो व्यक्ति सुख के पीछे जितना ही पड़ेगा, उसका मन उतना ही अस्थिर रहेगा। सुख की अवस्था मानसिक बचपन की अवस्था है। अतएव प्रकृति स्वयं ही हमें इससे छुड़ाती है, ताकि हम नित्य शान्ति की ओर बढ़ें। बाहरी झगड़े और भीतरी अशान्ति इसीलिये होते हैं। इनसे पाठ ग्रहण करके जो व्यक्ति सुख-वाद को छोड़ देता है, वह मानसिक स्थिरता तथा आरोग्य प्राप्त कर लेता है।

सुखवादी मनुष्य को बहुत से कपट-व्यवहार करने पड़ते हैं। जहाँ लाभ की बात होती है, वहाँ वह दूसरों को धोखा देने में नहीं हिचकता। अपने लाभ के लिये वह दूसरों को सहज में कष्ट पहुँचा देता है। समाज में सच्चे और परोपकारी व्यक्ति का आदर होता है, अतएव सुख-वादी व्यक्ति को सदा सच्चे और परोपकारी बने रहने का ढोंग बनाये रखना पड़ता है। यदि समाज में उसकी भारी प्रतिष्ठा है, तो उसे अपनी विषय-विलासिता की बातें छिपाये रखनी पड़ती हैं; अर्थात् उसे सत्य की अवहेलना करनी पड़ती है। मानसिक जटिलता की अवस्था

में मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और वासनाओं को ही भूल जाता है। समाज का सम्मान प्राप्त करने के लिये वह अपनी इच्छाओं का दमन करता है, भारी तपस्वी बन जाता है, परन्तु पीछे वह अपने आपको सच्चा त्यागी ही समझने लगता है। इससे आत्म-प्रवंचना होती है, और अनेक मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है।

अपने आपको सुखी बनाये रखने के लिये सभी से सच्चा रहना आवश्यक है। अपने मित्रों एवं समाज के प्रति सच्चा रहने से बाहरी आपत्तियाँ नहीं आतीं, और यदि बाहरी आपत्तियाँ आती भी हैं, तो मनुष्य उनका सामना करने में समर्थ होता है। हमारी झूठ का पता लोगों को चल ही जाता है, हम चाहे उसको कितना ही क्यों न छिपावें। फिर जब मनुष्य अपने आप को खुला हुआ पाता है, तो उसे भारी दुःख होता है। उसके खोलनेवाले का वह दुश्मन हो जाता है। कई दिनों तक उसे चिन्ता बनी रहती है, कि कोई व्यक्ति सत्य को न जान ले। इस डर के मारे उसकी अन्तरात्मा निर्बल हो जाती है। सत्य को खोलने के लिये कोई-न-कोई परिस्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। यदि मनुष्य अपने आपको दूसरों के समक्ष वैसा ही दिखावे, जैसा वास्तव में वह है, तो उसे कष्ट न हो। जैसा दूसरे हमें जानते हैं, उसके विपरीत अथवा निम्न कोटि में रहना, समाज को धोखा देना है। इसका परिणाम मानसिक कमजोरी और कष्ट होता है। इसी तरह किसी व्यक्ति को धोखा देने से भी मनुष्य की अन्तरात्मा उसे कोसती है। इस प्रकार की आत्म-भर्त्संना से मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। कितने ही लोगों को अपने मित्र की स्त्री के साथ व्यभिचार करने से मानसिक रोग हो जाते हैं। इसी प्रकार कुटुम्बियों के साथ व्यभिचार करने पर तथा दूसरे प्रकार के अनुचित कार्यों से मानसिक रोग होते हैं। मनुष्य की आत्मा ही उसे ऐसे कामों के लिये कोसती है, और इसी से रोग की उत्पत्ति होती है। मनुष्य अपने पाप-कृत्य को छिपाना चाहता है। वह उसे जितना ही छिपाता है, उसकी भयंकरता को उतनाही बढाता है। सत्य का अनुशीलन करनेवाले व्यक्ति को पाप करने का अवसर नहीं मिलता। यदि कोई पाप उसने किया भी, तो उसका विनाश शीघ्र ही हो जाता है।

अपने आपको दूसरों से छिपाने का सब से बुरा परिणाम यह होता है, कि मनुष्य अपने आप से भी अपनी भावनाओं और वासनाओं को छिपाने लगता है। प्रत्येक मानसिक रोगी में आत्म-स्वीकृति का अभाव पाया जाता है। वह साधु बना रहता है। न केवल दूसरे लोग उसे महात्मा के रूप में जानते हैं, वरन् वह भी अपने आपको महात्मा मानने लगता है। यदि कभी वह अपने

आपको निकृष्ट बनाता है, तो भी उसका अभिमान ऊँचा ही बना रहता है। इस पूर्णता के भाव से ही मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। पूर्णता का अभिमान करने वाले व्यक्ति को अपने आपको कोसने के अनेक अवसर आजाते हैं। यदि वह छोटी सी भूल कर दे, तो वह दिन भर उसके कारण बेचैन हो जाता है। वह अपनी आलोचना को सह नहीं सकता। कभी-कभी वह मन में कल्पना करता है, कि चारों ओर लोग उसकी आलोचना कर रहे हैं। इन कल्पित आलोचकों के कारण उसका मन सदा दुःखी रहता है। वास्तव में यह आलोचक उसकी अन्तरात्मा होती है, और वह उसकी छिपी वासनाओं की आलोचना करती रहती है। ऐसे ही लोगों को सफाई की झक होती है। सचमुच में मन बाहरी सफाई नहीं, भीतरी सफाई चाहता है। वह भीतरी गंदगी से त्रस्त हो गया है। कितने ही लोगों को आवाज से असाधारण भय हो जाता है। यह बाहरी आवाज का भय आन्तरिक आवाज के भय का प्रतीक मात्र है। अन्तरात्मा की भर्त्सना बाहरी आवाज पर आरोपित हो जाती है। इसके कारण मनुष्य बाहरी आवाज को कितना ही कम क्यों न करे, वह कितने ही एकान्त में जाकर क्यों न रहे, उसे शान्ति नहीं मिलती। कितने ही लोगों को बाहरी आहट के कारण रात-रात भर नींद नहीं आती। वास्तव में बाहरी आहट उन्हें अनिद्रा से पीड़ित नहीं करती, भीतरी आहट ही पीड़ित करती है।

मानसिक आरोग्य के लिये मनुष्य को अपनी सच्ची वासनाओं को जानना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उसको अपना आचरण भी उसी प्रकार बनाना आवश्यक है, जिससे उन वासनाओं की शक्ति का सदुपयोग हो। मनुष्य अपनी काम वासना के विषय में ही सब से अधिक धोखा अपने आप को देता है; और इसी के कारण उसे सब से अधिक मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। कितने ही लोगों को अकेले रहने का विशेष भय रहता है। लेखक का एक रोगी अकेला घर से बाहर नहीं जा सकता था। उसके मनो-विश्लेषण से पता चला, कि उसके मन में व्यभिचार की प्रवृत्ति थी, और उसका अभिमानी स्वत्व अकेले रहने का भय उत्पन्न करके उसे कु-कृत्य से बचा रहा था। इसी प्रकार एक दूसरे रोगी के स्वप्न के अध्ययन से पता चला, कि वह आन्तरिक मन से वेश्या-गमन और समलिंगी व्यभिचार का इच्छुक है। वह वर्तमान अवस्था में अपनी स्त्री को छोड़ कर, साधु बने रह रहा है। वह अपना अधिक समय पूजा-पाठ में ही व्यतीत करता है।

न्याय की मनोवैज्ञानिक भित्ति

मनुष्य जो कुछ भला अथवा बुरा काम करता है, उसका भला अथवा बुरा फल उसे अवश्य ही मिलता है। इस बात को सभी धार्मिक ग्रन्थों में बताया गया है। परन्तु साधारणतः धर्म-गाथाओं में बताया जाता है, कि हमारे कर्मों का फल जब इस जन्म में नहीं मिलता, तो दूसरे जन्म में मिलता है। जो धर्म पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते, वे बताते हैं, कि बुरे और भले कामों को ईश्वर देखता है, और मरने के पश्चात् मनुष्य को वह उसके कामों के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक में डाल देता है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में इसी प्रकार के विचार का प्रचलन है। हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म पुनर्जन्म को मानते हैं। अतएव अपुरस्कृत भले कामका फल दूसरे जन्ममें प्राप्त होने की बात मानी जाती है। पुनर्जन्म होने का प्रमाण भी इस न्याय की आवश्यकता बताया जाता है। इस प्रकार की विचार-प्रणाली इस बात की मान्यता पर निर्भर है, कि मरने के पश्चात् मनुष्य की आत्मा रहती है, चाहे उसका फिर से जन्म हो अथवा नहीं। परन्तु जो लोग इस बात को नहीं मानते कि मरने के बाद मनुष्य का कुछ भी शेष रह जाता है, उनके लिये न्याय-पथ पर चलने के लिये क्या प्रेरक हो सकता है? किसी भी वैज्ञानिक-तर्क द्वारा शरीर के बाद रहने वाले तत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। मनुष्य की बुद्धि जितना ही अधिक तार्किक होती है और विज्ञान का भरोसा लेती है, मनुष्य आत्मा की अमरता को उतना ही संशय युक्त-देखता है। ऐसी अवस्था में नैतिकता का आधार क्या हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की बनावट को समझना आवश्यक है। यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है, कि बुरा काम वह है जिसका फल दुःख हो, और भला काम वह है; जिसका फल सुख हो। यह सुख और दुःख मानसिक अनुभूतियाँ हैं, और इनका होना न केवल वाह्य परिस्थितियों पर निर्भर है, वरन् यह मानसिक बनावट पर भी आधारित है। मनुष्य के सुख का कारण साधारणतया भोग्य पदार्थ मान लिया जाता है। यह एक भारी भूल है। सभी प्रकार के ऐन्द्रिक सुखों के होने पर भी मनुष्य दुःखी रह सकता है, और कठोर-से-कठोर जीवन में भी मनुष्य सुखी रह सकता है। मनुष्य को स्थायी सुख इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले पदार्थों से प्राप्त नहीं होता, वरन् दूसरे लोगों को सुखी बनाने के प्रयत्न से होता है। जब कभी कोई मनुष्य दूसरे के हित के लिये काम करता है, तो उसे आत्म-प्रसाद प्राप्त होता है। उसे अपने जीवन से संतोष होता है। बुरे काम करने पर उसे आत्म-भर्त्सना होती है। आत्म-प्रसाद मनुष्य

के आत्म-विश्वास को बढ़ाता है, उसकी इच्छा शक्ति को बली बनाता है; और आत्म-ग्लानि का भाव उसकी इच्छा-शक्ति को निर्बल बना देता है, तथा उसके आत्म-विश्वास का हरण कर लेता है। ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार के संशय और भय अकारण ही सताते रहते हैं। कभी-कभी निर्बल इच्छा-शक्ति की अवस्था में मनुष्य को आत्म-निर्देश से अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग हो जाते हैं। निर्बल इच्छा-शक्ति के व्यक्ति के मनमें जब कोई अभद्र कल्पना आजाती है, तो वह हटाये नहीं हटती। ऐसे व्यक्ति के मनमें कल्याण के विचार न आकर आपत्ति के विचार ही आते हैं। इन विचारों के कारण उनका जीवन भार-रूप हो जाता है।

कितने ही लोग जब अपने भले काम का फल किसी बाहरी पुरष्कार के रूप में नहीं देख लेते, तो वे निराश हो जाते हैं। सभी लोग चाहते हैं कि हमारे भले काम का फल धन, यश अथवा पद के रूप में मिल जाय। जब ऐसा नहीं होता, तब हम अपने को अभागा मानने लगते हैं। धर्म हमें सिखाता है, कि जो चीज हमें इस जन्म में नहीं मिली, वह अगले जन्म में मिलेगी। परन्तु वास्तव में यह एक प्रकार की सौदागिरी की मनोवृत्ति है। यदि भले कामों का फल सुखों का भोगना है, तो हम उन्हें अभी ही क्यों न भोग लें, न जाने आगे वे मिलेंगे अथवा नहीं। भले कामों का फल यदि ऐन्द्रिक सुख ही है, तो उसे छोड़ा ही क्यों जाय। भलाई में सौदागिरी की मनोवृत्ति ही सुखवाद और जड़वाद को जन्म देती है। जड़वादी कहते हैं, कि अन्ध-विश्वास में पड़ी जनता को ठगने के लिये ही समाज के चालाक लोग उसे अगले जन्म का सबक सिखाते हैं। सुखवाद के आधार पर सच्ची नैतिकता ठहर नहीं सकती, चाहे सुखवाद इसी जीवन तक सीमित हो अथवा वह अगले जन्म में भी जावे। सुख के प्रति अत्यधिक आकर्षण मनुष्य को स्वभावतः अनैतिक बना देता है।

दूसरे के हित के लिये किसी प्रकार के सुख त्याग करने का सर्वोत्तम लाभ यही है, कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति सुख की लिप्सा से मुक्त हो जाती है; और वह अद्‌भुत आनंद का अनुभव करता है। सुखके अनुभव के संस्कार मनुष्य के मन में छूट जाते हैं। मनुष्य का आन्तरिक स्वत्व इनसे अपने आपको मुक्त करना चाहता है। अतएव वह अनेक प्रकार के रोगों को अपने आप ही रच लेता है। चिन्ता, भय और रोग मनुष्य के मन को निर्मल करने के लिये उत्पन्न होते हैं। भले काम करने का सब से महत्व का फल यही है, कि मनुष्य को दु:ख नहीं भोगना पड़ता। ऐसे व्यक्ति के मन में अद्‌भुत आत्म-प्रसाद रहता है। वह आशा-वादी बन जाता है। उसकी कल्पना रचनात्मक होती है, और उसकी कार्य-क्षमता

अपार हो जाती है। बुरे कार्य से मनुष्य संशय-युक्त मनका तथा निराशावादी और निकम्मा बन जाता है। उससे सभी लोग घृणा करते हैं, और वह अपने आपसे भी घृणा करने लगता है। बुरे काम के करनेवाले व्यक्ति को अनेक प्रकार के अकारण भय और चिन्तायें सताते हैं। बुरे काम करनेवाले को बाहरी सत्ता दण्ड नहीं देती, वह अपने आप को स्वयं ही दण्ड देता है। इसी प्रकार भले काम करनेवाले को उसकी आत्मा ही पुरस्कार देती है।

जब हमारा भला काम किसी प्रकार पुरस्कृत नहीं होता, तो वह हमारी इच्छा-शक्ति का बल बन जाता है। पुरस्कृत होने पर काम का भला फल नष्ट हो जाता है। सभी लोग अपने भले कामों को पुरस्कृत होने की दृष्टि से अधिक-से-अधिक प्रकाश में लाते हैं, और अपने बुरे कामों को इस लिये छिपाते हैं, ताकि उनका दण्ड उन्हें न मिले। पुरस्कृत और प्रसिद्ध हो जाने से भले काम नष्ट हो जाते हैं, और दण्डित हो जाने से बुरे काम नष्ट हो जाते हैं। जब हम अपने भले काम के लिये पुरस्कार माँगने जाते हैं, तो हम नीचे जाते है। हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। हम अपना आत्म-विश्वास खो देते हैं। भले काम के लिये पुरस्कार मिल जाने पर मनुष्य की वह योग्यता ही चली जाती है, जिसके कारण उसने कार्य किया था। अपनी योग्यता का वही पुरस्कार ठीक है, जो मनुष्य को सहज-भाव से अपने आप मिले। जो पुरस्कार प्रयत्न करके मिलता है, वह सभी मानसिक शक्तियों का, और विशेष कर इच्छा-शक्ति का, विनाशक होता है।

मनुष्य के आन्तरिक मन और बाह्य प्रकृति में आन्तरिक एकता है। जो बात मनुष्य का आन्तरिक मन चाहता है, वही बाह्य प्रकृति-द्वारा भी घटित होती है। कहा जाता है कि जब पाप का घड़ा खूब भर जाता है, तो वह अपने आप ही फूट जाता है। बाहरी प्रकृति भी वही करती है, जो मनुष्य के हित के लिये आवश्यक है। हमारी बाहरी इच्छा और भीतरी इच्छा सदा एक-सी नहीं होती। बाहरी इच्छा से सभी विद्यार्थी परीक्षा में पास होना चाहते हैं, परन्तु कुछ विद्यार्थी भीतर से पास नहीं होना चाहते। ऐसे ही लोगों को परीक्षा के विषय में अकारण भय और चिन्ता उत्पन्न हो जाते हैं। ये भय और चिन्तायें आन्तरिक इच्छाओं के सूचक हैं।

भविष्य में होनेवाली दुर्घटनाओं के चित्र कभी-कभी मनुष्य को अनायास आ जाते हैं। हमारे एक मित्र को विलायत जाने के पूर्व मृत्यु-सम्बन्धी विचार आने लगे। उन्हें जाने के पूर्व अनेक प्रकार के अप-सगुन दिखाई देने लगे। उनका भीतरी मन विलायत जाने का विरोधी था। परन्तु अहंभाव के फंदे में

पड़ कर उन्हें विलायत जाना पड़ा। वहाँ पहुँचने के एक सप्ताह बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।

देखा गया है कि किसी प्रकार का अन्याय करने पर मनुष्य अंधा, कोढ़ी अथवा लकवा से पीड़ित हो जाता है। कभी-कभी उसे बाहरी आपत्तियाँ बरबाद कर देती हैं। किसी घोर अपराध के कारण कितने ही परिवार के प्रायः सभी लोग दैवी प्रकोप से मर जाते हैं। कितने ही धनी लोगों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी को बच्चे गोद लेने पड़ते हैं। बंबई के एक साहुकार के यहाँ छह पीढ़ी से गोद ही लिया बच्चा धन पाता है। धन पाने पर वह निष्पुत्र हो जाता है। एक गरीब बुढिया को सताने के कारण लेखक के गाँव के एक सम्पन्न परिवार के सभी लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गये। जिस किसी व्यक्ति ने उस बुढ़िया की झोंपड़ी पाई, वह थोड़ेही समय में काल के मुँह में गया, अथवा अपनी ही सम्पत्ति खो बैठा। एक नव युवक, जो सभी को बात-बात पर मार पीट देता था, लेखक के देखते-देखते सात वर्ष तक लकवा से पीड़ित होकर जवानी में ही मरा। लेखक के एक सम्बन्धी ने धोखा देकर अपने ही वंश के लोगों की सम्पत्ति हड़प ली। सम्पत्ति लेने के बाद घर की पतोहू को त्रास दिया जाने लगा, और इसके कारण उसने आत्म-हत्या करली। ये सम्बन्धी इसके मर जाने के बाद लकवा से साल भर में मर गए और घर बरबाद हो गया। लेखक के मित्र डा० राम मनोहर लोहिया ने आज से बीस वर्ष पूर्व बताया था, कि उनका परिवार पहले मिर्जापुर के शिवपुर गाँव में रहता था। परिवार में पचास के लग भग लोग थे। गाँव उन्हीं का था। किसी लेनदेन में एक ब्राह्मण गले में फाँसी डाल कर उनके घर मर गया। इसके बाद वह भूत बन कर परिवार को तंग करने लगा। इसके कारण लोहिया-परिवार को उस गाँव को छोड़ कर चले जाना पड़ा। फिर वह परिवार युक्तप्रान्त के कई गाँवों में बसा, परन्तु सभी जगह ब्राह्मण का शाप नव युवकों को नष्ट करता गया। स्वयं डा० लोहियाजी का जन्म फैजाबाद जिले के अकबर पुर गाँव में हुआ है। वहाँ से भी परिवार को बंबई, कलकत्ता और दूसरी जगह जाना पड़ा। दो चार दिन पूर्व जब उक्त विषय पर बात चीत हुई, तो उन्होंने परिवार में प्रचलित कहानी को तो सत्य बताया, परन्तु परिवार के विनाश के विषय में वे संदिग्ध मन थे। परन्तु उनके चचेरे भाई का विश्वास इस कथा की सत्यता में पूरा है। उन्होंने कहा कि मेरे पिता तभी मर गये थे, जब मैं दो महीने का था और उनकी उम्र चालीस वर्ष की भी न हो पाई थी। हो सकता है डा० लोहिया की तपस्या के परिणाम-स्वरूप वह शाप शान्त हो गया हो, क्योंकि उन्हें मृत्यु का भय नहीं सताता है। परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य बात है, कि डा० लोहिया का पारिवारिक जीवन कुछ

भी नहीं है; न तो उन्होंने विवाह किया और न उनके पास सम्पत्ति ही है।

उक्त वार्त्ताओं से स्पष्ट है, कि भले और बुरे कामों का फल दूसरे जन्म में ही नहीं, वरन् इस जन्म में भी मिलता है। भले काम का भौतिक फल देर के बाद भले ही मिले, उसका मानसिक फल तो तुरंत ही मिलता है। इसी प्रकार बुरे काम का भी मानसिक फल काम करने के बाद ही मिलने लगता है। टाल्स-टाय महाशय ने अपनी एक कहानी में बताया है, कि ईश्वर सत्त को देखता है। यह देखने वाला ईश्वर अपना ही सच्चा स्वरूप है। एक ओर यह मनुष्य के भीतर नैतिक नियम के रूप में व्यक्त होता है, और दूसरी ओर यही बाहरी घटनाओं के रूप में व्यक्त होता है। मन के भीतरी नियम और संसार के बाहरी नियम में सम-रसता अथवा साम्य है। हम बाहरी नियमों को इसी कारण से समझ सकते हैं, कि वे हमारे मन के नियमों से मिलते-जुलते हैं। यदि बाह्य संसार के नियमों, समाज के नियमों और मनको संगठन में लाने वाले नियमों में एकता न होती, तो वे हमारी समझ में ही न आते। एमरसन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है, कि मन एक है, और प्रकृति उसके सारूप्य है। मनोविज्ञान और तत्व-विज्ञान इतने दूर-दूर नहीं हैं, जितने कि उन्हें जड़वादी मनोवैज्ञानिक मान बैठे हैं।

आज सभी पूंजी-पतियों के मन में भय लगा हुआ है, कि कहीं उनकी पूंजी उनसे छीन न ली जाय। इसके लिये वे साधारण जनता को बंधन में रखने और उसे दबाने के अनेक प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु जैसे-जैसे उनके ये प्रयत्न बढ़ते जाते हैं, तैसे-तैसे उनका भय कम न होकर बढ़ता ही जाता है। यह भय ही उन परिस्थितियों को उत्पन्न करेगा, जिनको रोकने लिये सब प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं। पूंजीवादियों की पूंजी का बरबाद होना एक आध्यात्मिक आवश्यकता है। बिना इस प्रकार की बरबादी के पूंजीपतियों का मानसिक विकास सम्भव नहीं। पूंजी की ठेकेदारी करके वे न केवल लोगों की हानि कर रहे हैं, वरन् अपनी भी मौलिक क्षति कर रहे हैं। उनकी आन्तरिक प्रेरणा के कारण ही ऐसे विश्व-व्यापक युद्ध उत्पन्न होंगे, जिन्हें रोकना उनके लिए सम्भव न होगा। मनुष्य की आन्तरिक अशान्ति, जो कि जीवन के सर्वोत्तम मूल्यों के प्रति अवहेलनाके कारण उत्पन्न हो जाती है, बाहरी अशान्ति उत्पन्न करती है। धन जोड़कर मनुष्य जो अपने प्रति अन्याय करता है, उसी का प्रतिकार उसके धन के हरण द्वारा होता है। धनी मनुष्य का धन-विहीन हो जाना और उसका भोग करते रहने के लिये कुछ और भी चुकाना, उसकी मनो वैज्ञानिक आवश्यकता है।

जीवन में विश्वास का महत्व

डाक्टर विलियम ब्राऊन का कथन है, कि विश्वास वह सिद्धान्त है, जिसको हम सच्चा मानते हैं, और जिसके अनुसार हम आचरण करते हैं। मनुष्य के प्रत्येक कार्य में विश्वास की आवश्यकता होती है। हमें भावी घटनाओं की रूप-रेखा तथा अपने मित्रों के व्यवहारों में विश्वास करना पड़ता है। जिस व्यक्ति को अपने कार्यों की सफलता में विश्वास नहीं रहता, वह उन कार्यों को भली प्रकार से नहीं कर पाता। जिस व्यक्ति को अपने मित्रों में विश्वास नहीं रहता, वह उनकी सेवा नहीं कर पाता। मनुष्य के किसी प्रकार का विश्वास उसकी कल्पना को रचनात्मक बना देता है। कल्पना के रचनात्मक होने पर मनुष्य की क्रिया भी रचनात्मक हो जाती है। इस प्रकार की रचनात्मक क्रिया मनुष्य को सफलता देती है। मनुष्य पहले किसी बात की सफलता में अपना विश्वास खोता है, पीछे वह उस बात में असफल होता है।

सभी प्रकार के दूसरे विश्वासों का आधार आत्म-विश्वास है। किसी मनुष्य में क्या करने की शक्ति है, यह तब तक नहीं जाना जा सकता, जब तक वह उस काम को नहीं कर लेता। हम अपनी शक्ति को अपने कामों के द्वारा ही पहचानते हैं। प्रत्येक मनुष्यके मनमें उससे कहीं अधिक शक्ति है, जितने का उसे ज्ञान है, अथवा जितने को वह काम मे लाता है। यह अतिरिक्त शक्ति विश्वास के आधार पर ही क्रियाशील होती है। मनुष्य उतना ही काम करने में समर्थ होता है, जितना वह विश्वास करता है।

विश्वास बुद्धि की वस्तु नहीं है। बुद्धि को उतना ही ज्ञान हो सकता, जितना मनुष्य का अनुभव होता है। अनुभव के बाहर बुद्धि नहीं जाती। परन्तु यदि कोई मनुष्य पिछले अनुभव को विचार कर ही सदा चले, तो वह संसार में कुछ भी नया काम न कर पावे, चामत्कारिक बातोंका करना तो दूर रहा। प्रत्येक प्रतिभावान व्यक्ति कुछ ऐसी बातों में लगा रहता है, जिन्हें साधारण बुद्धि से देखने पर झक अथवा पागलपन ही कहा जा सकता है। आइन्सटाइन ने रिलेटीविटी का सिद्धान्त जब खोजा, तो उसकी सब बातों को पागलपन ही समझा जाता था। इस सिद्धान्त को खोजने के लिये वैज्ञानिक विचार-प्रणाली को ही छोड़ दिया गया था। इसी प्रकार एटम की शक्ति की खोज करने में असाधारण सूझ से काम लिया गया था। किसी भी समाज का नेता एक विशेष प्रकार का विचार समाज को देता है। उसका इन विचारों में अटूट विश्वास होता है। समाज के दूसरे बुद्धिमान लोग इस विचार को प्रायः मूर्खता ही समझते हैं। परन्तु विश्वास

के आधार पर वह अपने विचार की मौलिकता प्रदर्शित कर देता है।

विश्वास युक्ति-जन्य वस्तु नहीं है, वरन् वह युक्तियों का जनक है। मनुष्य की बुद्धि उसके विश्वास का अनुकरण करने लगती है। जो व्यक्ति जिस तथ्य में विश्वास करते हैं, वे उसकी मौलिकता सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियाँ खोज लेते हैं। जिस नेता पर समाज का विश्वास रहता है, उसकी सभी बातें बुद्धिमानी से भरी और भली मानी जाती हैं, और जिसमें जनता का विश्वास नहीं रहता, उसकी सभी बातें मूर्खता पूर्ण और बुरी मालूम होती हैं। मनुष्य के विश्वास बदल जाते हैं। वे अपने विश्वासों के अनुरूप प्रमाण पाने लगते हैं। निराशा-वादी लोगों को संसार विनाश की ओर जाते दिखाई देता है, और आशावादी लोगों को वह विकास-युक्त दिखाई देता है।

जब हम किसी काम के विषय में निर्णय करते हैं, तो केवल तर्क से काम लें, तो छोटी बात के विषय मे भी कभी भी निर्णय न कर पावें। किसी बात के अनु-कूल और प्रतिकूल तर्क सोचते-सोचते वर्षों लग जा सकते हैं, परन्तु मनुष्य किसी निर्णय पर नहीं आवेगा। जो व्यक्ति केवल तर्क के आधार पर निर्णय करता है, वह कभी निर्णय ही नहीं कर पाता। निर्णय में मनुष्य को आशाओं का बहुत कुछ हाथ रहता है। इन आशाओं में उसकी चाहें और रुचियाँ निहित रहती हैं। ये उसके स्वभाव बन जाते हैं, और मनुष्य के निर्णय उसके स्वभाव के अनुरूप होते हैं।

जब किसी मनुष्य के व्यक्तित्व में आन्तरिक द्वन्द्व चलता है, तो उसे अपने विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। उसकी रुचियाँ बदलती रहती हैं। ऐसा व्यक्ति कुछ भी निर्णय नहीं कर पाता। यदि वह आज एक प्रकार का निर्णय करता है, तो कल दूसरे प्रकार का निर्णय कर डालता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द से मनुष्य की मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है। फिर उसमें न अपने आपमें, और न दूसरों में विश्वास रह जाता है। वह निश्चयही नहीं कर पाता, कि वह सफलतापूर्वक क्या कर सकता है। उसके मन में आशा-निराशा सदा डोलती रहती हैं। भावों की शक्ति खर्च हो जाने पर विचार की शक्ति भी खर्च हो जाती है। मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य विश्वास-हीन हो जाता है। वह फिर निराशावादी हो जाता है। उसे सभी घटनायें अप्रिय लगने लगती हैं, और सभी बातों के बुरे पहलू दिखाई देने लगते हैं। यह उसकी आध्यात्मिक शक्ति के खर्च होने का परिणाम है।

मनुष्य अपने विश्वास की शक्ति को आत्म-नियंत्रण के अभ्यास के द्वारा बढ़ा सकता है। जिस मनुष्य में आत्म-नियंत्रण की शक्ति जितनी अधिक हैं,

उसका आत्म-विश्वास भी उतना ही अधिक होता है। जो व्यक्ति भावों के प्रवाह में वह जाता है, जो इच्छाओं के वेग को सहन नहीं करता, वह शीघ्र ही निराशा-वादी वन जाता है। सभी प्रकार के तप मनुष्य के विश्वास की शक्ति को बढ़ाते हैं। तप मन को रोकने के अभ्यास का नाम है। अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण, अपनी वाणी पर नियंत्रण और अपने कार्यों पर नियंत्रण मनुष्य की इच्छा-शक्ति को बढ़ाते हैं। इससे मनुष्य का अपने आप में विश्वास बढ़ जाता है। मनुष्य तभी तक दूसरे लोगों के मन को वश में कर पाता है, जब तक उसका मन अपने वश में है। जिस व्यक्ति का मन अपने वश में नहीं है, वह दूसरे लोगों के मन को भी वश में नहीं ला पाता। तप-हीन व्यक्ति की बात दूसरे लोग नहीं सुनते। उसका उन लोगों पर विश्वास भी नहीं रहता।

मैत्री-भावना के अभ्यास से मनुष्य का अपने आप में विश्वास बढ़ता है। मैत्री-भावना का अभ्यास दूसरे लोगों में विश्वास बढ़ाता है। प्रेम और विश्वास एक दूसरे के सहगामी है। जहाँ एक रहता है, वहाँ दूसरा भी आ जाता है। फिर दूसरों के प्रति किया गया विश्वास आत्म-विश्वास में परिणत हो जाता है। मैत्री-भावना के अभ्यास से मनुष्य का मानसिक एकी-करण होता है। उसकी सभी मानसिक शक्तियाँ एक-मुखी हो जाती हैं। इससे उसके मनमें अपार शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही शक्ति उसमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करती है। मनुष्य की अज्ञात मानसिक शक्ति विश्वास का आधार है।

विश्वास प्रति दिन के आत्म-निर्देश से बढ़ता है। जो मनुष्य प्रति दिन अपने आपको शुभ निर्देश देता है, जो सदा भले विचारों को ही अपने मनमें स्थान देता है और जिसका जीवन सबकी भलाई के लिये प्रगतिशील है, वह अपने आप ही विश्वासवान हो जाता है। मनुष्य की मानसिक शक्ति उस विचार अथवा भाव पर निर्भर है, जिससे वह सदा प्रभावित रहता है, और जिसका वह सदा मनन करते रहता है। विचार ही शक्ति बन जाता है। यदि कोई मनुष्य सदा मनन करे, कि वह चेतन अणु है और उसमें अपार शक्ति है, तो वह उसी के अनुरूप अपने आपको परिणित हुए पावेगा। मनुष्य अपने विषय में जो कुछ सोचता है, वह उसी प्रकार हो जाता है।

कितने ही स्वस्थ व्यक्ति अपने आप को रोगी माने रहते हैं। वे सोच लेते हैं कि वे जीवन में असफल रहेंगे। इसके कारण उनकी कार्य क्षमता नष्ट हो जाती है। बहुत से विद्यार्थी अपनी परीक्षा की साल भर तैयारी करके भी परीक्षा में बैठने की हिम्मत नहीं करते। इसका कारण उनकी निराशा-जन्य कल्पनायें हैं, जो आत्म-निर्देश में परिणत हो चुकी हैं।

आत्म-निर्देश का शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव

हमारी शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण हमारा अचेतन मन करता है। इनका नियन्त्रण हमारा चेतन मन नहीं कर सकता। यदि हमारी पाचन-शक्ति बिगड़ी हुई है; और हम चाहते हैं कि उसे सुधार लें, तो हमारी इच्छा करने से वह नहीं सुधरती। इतना ही नहीं, हम जितनी ही अधिक इसके विषय में चिन्ता करते हैं, और भी बिगड़ती जाती है। चिन्ता, चेतन और अचेतन मनका कार्य है। चिन्ता की अवस्था में चेतन और अचेतन मन में अंतर्द्वन्द रहता है। जैसे-जैसे इच्छा की प्रबलता होती जाती है, उसी मात्रा में भय भी बढ़ता जाता है। इतना ही नहीं, इच्छा के बल से भय का बल कहीं अधिक होता है, क्योंकि अचेतन मन, चेतन मन से कहीं अधिक बलवान है। अतएव जब कभी किसी व्यक्ति के मन में स्वास्थ्य अथवा किसी अन्य कार्य के विषय में चिन्ता उत्पन्न हो जाय, तो सबसे सुन्दर उपाय सफलता प्राप्त करने का यही है कि वह अपनी इच्छा को ही छोड़ दे। इच्छा की प्रबलता कम होने पर चिन्ता की प्रबलता भी कम हो जाती है। अस्तु शारीरिक क्रियाओं का नियंत्रण चेतन मन के द्वारा नहीं होता। कोई चाहे कि भाव से बहते हुए रुधिर को इच्छा-शक्ति के द्वारा बन्द कर दे, तो यह सम्भव नहीं। इसी तरह दिल की धड़कन, नाड़ी की गति और फेफड़ों का काम करना चेतन मन की इच्छा पर निर्भर नहीं है। यह अचेतन मन ही उनकी गतियों का संचालन करता है। यदि कोई व्यक्ति देर तक अपने मन में यह कल्पना करे कि उसे कोई विशेष प्रकार का रोग उत्पन्न हो गया, उसके पेट में फोड़ा निकल आया है; तो वास्तव में फोड़ा निकल आता है। देर तक रहनेवाली कल्पना वास्तविकता में परिणत हो जाती है।

एक रोगी को यह कल्पना हो गई, कि उसे क्षय हो गया है। उसने एक प्रसिद्ध डाक्टर से अपने रोग के विषय में सलाह ली। उस डाक्टर ने कह दिया कि वास्तव में उसे भयानक क्षय रोग हो गया है, और उसका बचना कठिन है। इस व्यक्ति ने उसी दिन से चारपाई पकड़ ली। पहले तो वह चलता-फिरता और घर का काम करता था, पर अब उसका चलना-फिरना भी कठिन हो गया। अन्त में वह एक मानसिक चिकित्सक के पास लाया गया। उसने उसकी शारीरिक चिकित्सा कराई। उस परीक्षा-फल की कुछ भी परवाह न करते हुए उसने उसे आश्वासन दिया कि वह पूर्ण नीरोग है। यदि वह चलना-फिरना आरम्भ कर दे तो उसकी पाचन-शक्ति ठीक हो जायगी, और फिर वह अपने अन्दर पहले जैसी शक्तिका अनुभव करने लगेगा। रोगी ने चलना-फिरना आरम्भ किया और

थोड़े ही दिनोंमें पूर्ण स्वस्थ हो गया।

मन में तीव्र कल्पना के आने पर फोड़े अथवा कई प्रकार के दर्द उत्पन्न हो जाते हैं। इन कल्पनाओं के प्रतिकूल कल्पनाओं के उत्पन्न होने पर ये रोग नष्ट हो जाते हैं। तीव्र कल्पनायें आत्म-निर्देश में परिणत हो जाती हैं; अर्थात् वे अचेतन मन को प्रभावित करती हैं। अचेतन मनके प्रभावित होने पर जिस प्रकार की इच्छा की जाती है अर्थात् जिस तरह की भावना होती है, उसी प्रकार का आरोग्य हमें प्राप्त होता है।

एक बार इमिल कूए महाशय ने निर्देश की शक्तिका प्रयोग रुधिर-प्रवाह बन्द करने में किया। उनकी एक मित्र-महिला को दाँत का दर्द था। उसने दाँत को एक डाक्टर से उखड़वाने का निश्चय किया। जब वह डाक्टर के पास गई, तो कूए महाशय भी उसके साथ गये। दाँत जब उखाड़ दिया गया, तो रुधिर प्रवाह आरम्भ हुआ। कूए महाशय ने इस प्रवाह को रोकने के लिए किसी बाहरी दवा लगाने से डाक्टर को रोक दिया और उन्होंने आत्मनिर्देश की विधि से रुधिर-प्रवाह को रोकने का प्रयत्न किया। वे इसमें पूर्ण सफल हुये।

कूए महाशय का कथन है कि पेट और सिर के दर्द निर्देश के द्वारा मिटाए जा सकते हैं। वास्तव में निर्देश के द्वारा चामत्कारिक शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं। भोजन करते समय जब हम यह विचार करते हैं, कि हमें अमुक भोजन नुकसान करेगा, तो वह अवश्य नुकसान करता है। यदि हम यह विचार करें, कि वह लाभ पहुँचायेगा तो वह लाभ भी अवश्य पहुँचायगा। विचारों के द्वारा कितने ही लोग अपने आप को निर्देश देकर अस्वस्थ बना लेते हैं, और कितने ही रोगी सदनिर्देश के द्वारा स्वस्थ हो जाते हैं।



अर्धनारीश्वर

जापान के एक प्राचीन मंदिर में एक विलक्षण मूर्ति की पूजा होती है। जिस देवता की यह मूर्ति है, वह अर्ध-नारीश्वर कहलाता है। जापानी भाषा में इसका जो नाम है, वह अर्धनारीश्वर शब्द से मिलता-जुलता है। यह मूर्ति आधी नर और आधी नारी है। संसार के अन्य लोग जब इस मूर्ति को देखने जाते हैं, तो उसे विस्मय की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु भारतीयों के लिए यह आश्चर्य की वस्तु नहीं है। भारतवासी इसमें अपनी सभ्यता की प्राचीनता और प्रसार देखते हैं। कभी भारत में भी ऐसी मूर्तियों की पूजा होती रही है। फिर संस्कृत-साहित्य के लिए यह कल्पना नई नहीं है।

संसार के सभ्य लोग भारतकी उपर्युक्त प्रकार की उपासनाओं को या तो असभ्यता का प्रदर्शन अथवा रहस्यमय बात मानते हैं। यूरोपीय भारत की लिंग-पूजा और योनि-पूजा की कभी-कभी हँसी उड़ाते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें अब प्रमाणित कर रही हैं, कि इस प्रकार की पूजा मन के उन भागों को वश में लाने के उपाय हैं, जो चेतना के परे हैं। शिव का ध्यान कामुकता को वश में लानेवाला माना गया है। हाल ही में काशी मनोविज्ञानशाला में भाषण करते हुए मानसिक चिकित्सा के जर्मन विशेषज्ञ डा० जेकब्स ने बताया कि शिव-लिंग पर जल चढाने से कामवासना शान्त होती है। इसी प्रकार ब्रह्मयोनि की पूजा कामवासना को जीतने का उपाय है। इसका एक प्राचीन मन्दिर गया की एक पहाड़ी-चोटी पर है। यह नगर के सभी नागरिकों को दूर से दिखाई देता है। यदि इसकी पूजा हमारी संस्कृति में अश्लीलता मानी जाती, तो ब्रह्म-योनि का मन्दिर इतनी ऊँची शिखर पर न बनवाया गया होता।

अब प्रश्न आता है, कि इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण मनुष्य ने क्यों किया और उस निर्माण से उसका क्या मानसिक लाभ होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य-मन की सहजावस्था वही निर्मित करती है, जो वह भीतरी मन से है। अपनी सहजावस्था में आने पर मनुष्य समाज के सारे प्रतिबंधों को विस्मृत कर देता है, और उसके मन से उसके अन्तरतम की अनुभूति प्रकट हो जाती है। मनुष्य के स्वभावका प्रधान अंग एक ओर काम है, और दूसरी ओर दैविकता है। हमारी चेतना में ये दोनों विरोध के रूप में देवासुर-संग्राम का रूप धारण कर प्रकट होते हैं। तात्विक दृष्टि से वे दोनों एक हैं। यह तात्विक दृष्टि अपनी सहजावस्था में प्राप्त होती है। सच्ची कला, कविता और उपासना सहजावस्था के प्रकाशन हैं। अतएव जब मनुष्य कृत्रिमता को त्याग कर अपने

वास्तविक स्वरूप में आता है, तो उसी भाव को व्यक्त करता है, जिसकी उसे आन्तरिक अनुभूति होती है। इस प्रकार के व्यक्तीकरण से वह अपने अन्तर्विरोध को शान्त करने में समर्थ होता है। लिंग एक ओर कामवासना का प्रतीक है और दूसरी ओर जगदीश्वर का अथवा अन्तरात्मा का। दोनों भावों को जब एक जगह मनुष्य देखने लगता है, तो उसकी काम-कृत्य-जन्य मानसिक ग्रन्थियाँ शान्त हो जाती हैं।

परम तत्व जब मूर्तिमान होता है, तो वह कामवासना के प्रतीक का रूप धारण करता है। यह प्रतीक लिंग अथवा योनि के रूप में कल्पित है। परन्तु मूल में दोनों एक हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्तिकी कामवासना के दो भाग हैं -स्त्रीत्व और पुरुषत्व। नर में नारी है, और नारी में नर। निम्नतर श्रेणी के जीवधारियों में स्त्रीत्व और पुरुषत्व के अंग एक ही शरीर में होते हैं। ऐसे जीवों को हरमोफ्रोडाइट कहा जाता है। उच्चकोटि के प्राणियों में स्त्री और पुरुष के अंग अलग-अलग हो जाते हैं। इनकी काम-चेष्टाएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। परन्तु सर्वथा किसी प्राणी में विरोधी लिंग-भाव का अन्त नहीं होता।

मनुष्य में कामवासना का विकास उच्चतर श्रेणी को प्राप्त करता है। यहाँ कामवासना का महत्व शारीरिक न होकर मानसिक हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य में नर और नारी दोनों प्रकार की मनोभावनाएँ रहती हैं। व्यक्ति का जो शारीरिक लिंग होता है, उसके चेतन मन में उसी लिंग की प्रधानता होती है। कामुकता के विकास की नीची अवस्था में मनुष्य के चेतन मन में भी विरोधी लिंग के भाव रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक किशोर बालक चेतन मन से उभय-लिंगी होता है। धीरे-धीरे इसी अवस्था में शारीरिक लिंग उसके व्यक्तित्व का प्रधान अंग बन जाता है। अर्थात् यदि वह पुरुष है, तो उसका आचार, व्यवहार और चिन्तन पुरुष जैसा हो जाता है; और यदि वह स्त्री है, तो स्त्री जैसा उसके व्यवहार और विचार बन जाते हैं।

परन्तु इस प्रकार किसी विशेष लिंग की मनुष्य के चेतन मन में प्रधानता हो जाने पर, विरोधी लिंग की भावना समाप्त नहीं होती। यह भावना दमित होकर मनुष्य के अचेतन मन में चली जाती है। यदि अचेतन मन की विरोधी भावना अति प्रबल हुई, तो वह स्त्री-पुरुष-संबंध में बाधक बन जाती है। इसके कारण कितने ही पुरुषों को फिट, मानसिक नपुंसकता, अकारण भय और दुश्चिन्तन के रोग हो जाते हैं। कितनी ही स्त्रियाँ किसी पुरुष की पत्नी नहीं बनना चाहतीं, वे स्त्रियों को ही प्यार करती हैं। ऐसी स्त्रियों का विवाह होने पर वैसे

ही रोग उन्हें भी हो जाते हैं, जैसे पुरुषों को होते हैं। साधारणतः मनुष्य अपने विरोधी लिंग के भाव का दमन करता है। इससे उसका एक ओर मानसिक विकास होता है, परन्तु दूसरी ओर इससे मानसिक खिंचाव भी बढ़ता है। इस खिंचाव को यदि कम न किया गया, तो मनुष्य पागल तक हो जाता है। पुरुष की प्रबल स्त्रीलिंगी-भावना दमित होने पर उसके व्यक्तित्व का विभाजन करती है, और उसे पागलखाने की ओर ले जाती है।

इस मानसिक खिंचाव को कम करने का नैसर्गिक उपाय अपनी प्रबल कामेच्छा को किसी-न-किसी प्रकार तृप्त करने लग जाना है। इस तरह किशोर बालकों में समलिंगी प्रेम और वयस्क व्यक्तियों में समलिंगी व्यभिचार होते हैं। मानव-सभ्यता और मनुष्य का अहंभाव इसे बढ़ने नहीं देता। इसलिए इस प्रकार के आचरण को अप्राकृतिक माना गया है।

उक्त मानसिक खिंचाव को कम करने का प्राचीन उपाय दमित भाव का सहजावस्था में मूर्तिकरण (आब्जेक्टिफिकेशन) है। इस मूर्तीकरण की क्रिया के अर्थ को मनुष्य का चेतन मन नहीं जानता। जब वह इसे जानने लगता है, तो यह क्रिया ही समाप्त हो जाती है। हम सभी अपनी स्वप्नावस्था में अपनी दमित भावना का अनेक प्रकार के चित्रों में मूर्तीकरण करते हैं। यही मूर्तीकरण जब जाग्रतावस्था में होता है, तो अनेक प्रकार की कला, काव्य और भक्तिभावनायें देखनेको मिलती हैं। मनुष्य के धार्मिक प्रतीकोंका स्रोत उसके अचेतन मन में है। अर्ध-नारीश्वर के रूप में अपने दमित स्वत्व को प्रकट करके और उस रूप की उपासना करके मनुष्य न केवल अपनी पुरुषमयी, वरन् स्त्रीमयी कामवासना पर भी विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। जो व्यक्ति किसी प्रकार की काममावना को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, वे उसे अपना शत्रु बना लेते हैं। वे उस पर अधिकार प्राप्त न कर आत्म-विनाश की ओर जाते हैं।

पुरुष का स्त्रीत्व भाव ही उदात्तीकरण की अवस्था में योग्य शिक्षक, चिकित्सक, कवि, साहित्यिक और कलाकार के रूप में प्रकट होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में पुरुष और प्रकृति का मिलन है। इस सत्य को अर्ध-नारीश्वर का भाव प्रकट करता है। अतएव उक्त उपासना से अपने ही भीतर किसी प्रकार उसके भाव को पहचानने पर मनुष्य अपने आप से घृणा न कर, अपनी विशेष प्रकार की गुप्त मानसिक शक्ति का आत्म-विकास और समाज-सेवा में सदुपयोग करता है। काम-वासना पर विजय प्राप्त करने के इन अनोखे उपायों को संसार के सभ्य देशों को भारत से सीखना है।

अन्तर मन की बनावट

मनुष्य के मन की बनावट बड़ी ही जटिल है और उसका ज्ञान करना बड़े पुरुषार्थ का कार्य है। पहले तो हमें अपने चेतन मन का ज्ञान भली प्रकार से नहीं रहता, फिर इस मन के परे अचेतन मन का ज्ञान करना तो और भी कठिन बात होती है। अपने चेतन मन मे प्रत्येक मनुष्य अपने आप को बड़ा बनाने की चेष्टा करता है। वह जितना ही अपने आपको निम्न कोटि की वासनाओं से मुक्त होते हुए देखता है, उतना ही प्रसन्न होता है। अतएव ये वासनाएँ जब कभी ज्ञात होती हैं तो दमित हो जाती हैं।

दमित वासनाएँ मनुष्य के ज्ञान से सर्वथा नहीं चली जातीं। वे चेतन मन से हटकर अचेतन मन मे पहुँच जाती हैं और वहाँ उनका संग्रह हो जाता है। कठिन तपस्या करनेवाले व्यक्तियों के जीवन में निम्न कोटि की वासनाओं का दमन पाया जाता है। यदि इन वासनाओं का किसी समाजोपयोगी कार्य में सदुपयोग न हो पाया, तो एक-न-एक समय उनका भारी विस्फोट होता है। डा० फ्रायड के अनुसार मनुष्य के अचेतन मन मे उसकी सभी निम्नकोटि की वासनाएँ और विशेषकर कामवासना से संबंधित अनेक प्रकार की इच्छाएँ पाई जाती हैं। यही वासनाएँ अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोग उत्पन्न करती हैं और स्वप्नों के रूप में प्रकट होती हैं। चार्ल्स युग ने अन्तर्मन की बनावट के विषय मे और भी महत्व का प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि अन्तर्मन के दो भाग हैं, पहला भाग मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओं, भावनाओं और स्मृतियों से सम्बन्ध रखता है; और दूसरा भाग समष्टिगत भावनाओं, इच्छाओं तथा आदर्शों से। व्यक्तिगत भावनाएँ समाज-विरोधी अथवा अनैतिक रहती हैं। परन्तु समष्टिगत भावनाएँ नैतिक और दैविक होती हैं। अतएव यदि कोई मनुष्य इन भावनाओं के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसे अनेक प्रकार के रोग और जीवन में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं। मनुष्य का समष्टिगत मन उसे सदा भले बनाए रखने की चेष्टा करता है, और जब वह व्यक्तिगत इच्छाओं से प्रेरित होकर उसके विरुद्ध जाता है, तो वह दण्ड देता है। यह मन होने-वाली दुर्घटनाओं से आगाह भी कर देता है। स्वप्न मे हम इस मन की बातों को इस प्रकार जानते हैं। जो मनुष्य जितना ही इस मन से सम्पर्क स्थापित किए रहता है, वह उतना ही अधिक समाजोपयोगी कार्य करता है।

हम अचेतन मन से सम्पर्क विश्वास, ज्ञान, भक्ति और सदाचरण के द्वारा कर सकते हैं। इस मन की किंचित शक्ति प्राप्त करने पर भी मनुष्य बड़े-बड़े असाधारण कार्य कर डालता है। अन्तर्मन का एक भाग देश और काल के परे है। इस भाग तक पहुँचने के लिए हमें अपने अहंकार-युक्त मन को शान्त कर देना पड़ता है। इस क्रिया को पुराने शब्दों में योग कहा जाता है और आज-कल की मनोवैज्ञानिक भाषा में (इन्टीग्रेशन आफ परसनालिटी) व्यक्तित्व का एकीकरण।

सफल अध्ययन की मनोवैज्ञानिक विधि

सफल अध्ययन वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने अपने मन के ऊपर अधिकार प्राप्त कर लिया है। अध्ययन करने में विद्यार्थियों को दो प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; एक पुस्तक पढ़ने की, और दूसरी पढ़े पाठ को याद रखने की। पहले तो पुस्तक पढ़ते समय पुस्तक के पन्नों पर चित्त एकाग्र न होकर इधर-उधर भागता है। कभी पुस्तक हाथ में रहती है, पुस्तक के शब्दों पर दृष्टि रहती है और मन कहीं दूसरी जगह ही रहता है। कभी-कभी हम पुस्तक को पढ़ते जाते हैं, और हमें ज्ञात होता है कि हम उसका अर्थ समझ रहे हैं, परन्तु कुछ देर के बाद हम देखते हैं कि हम कहीं के कहीं चले गये। जब हम पुस्तक को पढ़ रहे थे, उसी समय मन का एक भाग दूसरा ही कार्य कर रहा था। इसी प्रकार की मनोदशा की प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी समय अनुभूति होती है। मन के इस प्रकार के विभाजन का एक सुन्दर उदाहरण विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक "प्रिंसिपुल्स आफ साइकालाजी" में दिया है। एक प्रोफेसर अपनी कक्षा में एक दार्शनिक विषय पर भाषण कर रहा था। इसी बीच मन का एक भाग किसी टी० पार्टी में दौड़ गया। उसने इस पार्टी मे शामिल होकर अपने मित्रों से अनेक प्रकार की बातचीत की। इस तरह वह पांच-सात मिनट तक मन की विभाजित अवस्था में रह गया। जब उसके मन का एक भाग टी० पार्टी की ओर लगा हुआ था, उस समय मन का दूसरा भाग लेक्चर दे रहा था। अकस्मात् उसके मन का पहला भाग भी जो कुछ वह कह रहा था, उसके प्रति सचेत हो गया। इस समय उसे ज्ञात हुआ कि उसके विचारों का क्रम ठीक ढंग से चल रहा है।

वास्तव में चित की एकाग्रता एक सापेक्ष वस्तु है। किसी मनुष्य का चित्त कभी-कभी ही सम्पूर्ण रूप से एकाग्र होता है। जब हमारे मन के केन्द्रीय भाग पर एक बात रहती; उसी समय मन के आस-पास के भागों में और अनेक प्रकार की घटनायें होती रहती हैं। जब हम इन आस-पास की घटनाओं में अधिक रुचि लेते हैं, तब हम चित्त एकाग्र न होने का अनुभव करते हैं। जो विद्यार्थी जितना ही अधिक चित्त के विभिन्न भागों को कुछ समय के लिये एक जगह पर समेट लेता है; वह अपने अध्ययन में उतना ही सफल होता है। चित्त जितना ही एकाग्र होगा, मनुष्य के मस्तिष्क पर पठित-विषय के उतने ही गहरे संस्कार पड़ेंगे। और जितने ही गहरे संस्कार किसी ज्ञान के मनुष्य में रहेंगे, उतनी ही देर तक वह स्मरण रहेगा।

चित्त को एकाग्र करने के लिये मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से सचेष्ट होना पड़ता है। वे ही लोग पढ़ाई में अधिक-से-अधिक लाभ उठाते हैं, जो पढ़ने के काम में अधिक मानसिक शक्ति खर्च करते हैं। जो व्यक्ति ढीले ढाले किसी पुस्तक का अध्ययन करते हैं, उन्हे पुस्तक की बाते कुछ समय तक याद रहकर फिर भूल जाती हैं। हम पढ़ने के काम को जितना ही अधिक क्रिया से संबन्धित मानते हैं, वह उतना ही अधिक स्थायी रहता है। छोटे बच्चे के लिये, किसी पाठ के याद रखाने के लिये यह आवश्यक हैं कि जोर-जोर से पढ़ें। गुनगुनाते हुये धीरे-धीरे मन मे पढ़ो। बच्चों को पढ़ाते समय मन मे जितना ही अधिक उनसे बुलवाया और लिखवाया जाता है, उन्हें पाठ उतना ही अधिक स्मरण रहता है।

ऊँची कक्षा के विद्यार्थी सब समय बोलकर नहीं पढ़ सकते और न वे लिखकर ही पढ़ाई के संस्कार स्थिर कर सकते हैं। ऊँची कक्षा मे थोड़े ही समय में बहुत से विचारों को ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। अतएव बोलकर पढ़ना अथवा लिखकर विषय याद करना कठिन होता है। इन कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये यह आवश्यक है कि पुस्तक को पढते समय एक पेंसिल को हाथ में रक्खें और पठित विचारों मे जो महत्व के हों उनके नीचे निशान लगावें। पूरे पैराग्राफ या पृष्ठ के पढ़ लेने पर इन महत्व के विचारों की गिनती कर लें और फिर यह जानने की चेष्टा करें कि वे किस सिद्धान्त के अंग बन सकते हैं। इस बात की खोज करने मे मनुष्य को भारी मानसिक परिश्रम पड़ता है, उसे सभी विचारों की छानबीन करनी पड़ती है। इस प्रकार की छानबीन के कारण विद्यार्थी के मस्तिष्क पर न केवल महत्व के विचार के ही वरन् दूसरे विचारों के भी संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। फिर यदि कोई विद्यार्थी एक पुस्तक मे उपस्थित विचारों की तुलना दूसरे पुस्तक के समान विचारों से कर तो उसे और भी अधिक लाभ हो। इस प्रकार एक विचार का दूसर विचार से संबंध हो जाता है, और वह फिर भली प्रकार से मस्तिष्क में जम जाता है।

विलियम जेम्स महाशय का कथन है कि स्मरण-शक्ति को बढ़ाने का एकमात्र रहस्य उस विषय पर सोचना है, जिसे हम स्मरण रखना चाहते हैं। जिस बात पर हम जितना ही अधिक सोचते हैं, वह उतना ही अधिक याद रहता है। हम सबों का अनुभव है कि हम पुस्तक की पढ़ी बात को शीघ्र भूल जाते हैं। परन्तु यदि किसी व्यक्ति ने हमारी निन्दा की है, हमें गाली दी है, अथवा किसी प्रकार की हम हानि पहुँचाई है, तो उसे हम जल्दी नहीं भूलते हैं। इसका कारण यह है कि हम पुस्तक की बात पर बार-बार ध्यान नहीं देते। यदि हम पुस्तक की

लिखी बात को भी उतनी ही बार सोचें, जितनी बार हम दुःखद या सुखद घटनाओं को सोचते हैं, तो वे भी देर तक स्मरण रहें। बहुत से विद्यार्थियों को अपनी पढ़ाई में रस नहीं मिलता है। रसाभाव के कारण उनका मन पठित-विषय से भागता है। पढ़ाई के विषय को रसयुक्त बनाना भी उसको स्मरण रखने का उपाय है। मनुष्य का मन एक भौंरे के समान है। जिस फूल में वह मिठास देखता है, उसी की ओर बढ़ जाता है। जब विद्यार्थी अपने पाठ्य विषय को अत्यन्त हितकर जान जाएगा, तो उसका मन उसमें अपने आप चला जायगा। कभी-कभी हमारा बाहरी मन पठित विषय की उपयोगिता पहचानता है; परन्तु आन्तरिक मन उससे घृणा करता है, अथवा उसकी उपयोगिता नहीं पहचानता। ऐसी अवस्था में भी पठित विषय स्मरण नहीं रहता। वास्तव में, ऐसे विषय पर मन एकाग्र ही नहीं होता।

जब विद्यार्थियों को मारपीट कर किसी विषय को पढ़ाया जाता है, तो वे उसमें मन्दबुद्धि के हो जाते हैं। ऐसे विषय के प्रति बालक का आन्तरिक मन घृणा करने लगता है; फिर वह विद्यार्थी जितना ही उस विषय को याद करने की चेष्टा करता है, उसे वह उतना ही भूलता है। अभी हाल की बात है कि मनोविज्ञानशाला में एक प्रखर बुद्धि का विद्यार्थी आया। इसे हकलाने का रोग था। इसके जीवन का अध्ययन करने से पता चला कि उसे अंग्रेजी याद नहीं होती; वह इतिहास, भूगोल, गणित आदि में ठीक है। इसकी जीवनी के अध्ययन से पता चला कि उसे अपने पिता से उचित स्नेह नहीं मिला। स्नेहाभाव के कारण उसके मन मे पिता के प्रति भारी असन्तोष का भाव है। उसके पिता ने ही उसे अंग्रेजी प्रारम्भ में पढ़ाई और अंग्रेजी पढ़ते समय उसे काफी डाट-फटकार सुननी पड़ी। पिता की डाँट फटकार से लड़के को एक ओर हकलाहट आ गयी और दूसरी ओर उसे अंग्रेजी के शब्द याद न रहने लगे। जिस पिता का संबंध हमारे अपमान से हो जाता है, उसे हमारा मन विस्मरण करने की ही चेष्टा करता है। यदि हम बालकों को किसी बात को देर तक स्मरण रखाना चाहते हैं, तो उसे प्रिय बनाकर उनके सामने लाना होगा। यदि हम स्वयं किसी बात को स्मरण रखना चाहते हैं, तो बार-बार इस बात पर चिन्तन करना होगा; कि वह कहाँ तक हमारे हित की है। अध्ययन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि हम दूसरे लोगों के विचारों को हर समय मस्तिष्क में न आने दें। जो लोग सदा पुस्तक पढ़ने में लगे रहते हैं और उनमें कहे गये विचारों पर चिन्तन और मनन नहीं करते; वे कुछ ही दिनों में अपनी बुद्धि की प्रखरता और प्रतिभा को खो देते हैं। जिस प्रकार किसी श्यामपट पर बार-बार लिखते रहने से श्यामपट के शब्द

एक दूसरे से भिड़ जाते हैं; उसी प्रकार दूसरे के विचारों को अपने मस्तिष्क पर बार-बार अंकित करने से मस्तिष्क के अर्थ-ग्रहण करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। जब तक मनुष्य पढ़ी गई बात पर चिन्तन नहीं करता, वह समय पर उसके काम नहीं आती। यदि किसी स्प्रिंग पर भारी पत्थर देरतक रक्खा रहे तो स्प्रिंग अपना लचीलापन खो देता है। उसी प्रकार यदि मस्तिष्क के ऊपर सदा दूसरों के विचारों का बोझ लदा रहे, तो मस्तिष्क भी अपने सोचने की शक्ति खो देता है। जिन लोगों मे पुरुषार्थ की प्रबलता रहती है, वे स्वतत्र-चिन्तन को अपने जीवन मे अधिक महत्व देते हैं। वे दूसरे लोगों के विचारों को अपने मस्तिष्क में उतनी ही दूर तक आने देते हैं, जितनी दूर तक कि ये विचार उनके स्वतंत्र चिन्तन को प्रोत्साहन देते हैं। निकम्मे और आलसी स्वभाव के लोग दूसरे लोगों के विचारों को सदा बिना समझे-बूझे रटते रहते हैं, और इस प्रकार अपनी बेसमझी झूठी विद्वत्ता को अपना आभूषण समझते हैं। किसी विद्वान् की पुस्तक को तेजी से पढ़ डालना उसका सम्मान नहीं, अपमान है। विद्वान का सम्मान तभी होता है, जब हम उसके प्रत्येक विचार के मूल्याकन को अपनी समझ के अनुसार उचित स्थान दे।

पढ़े पाठ को न भूलने के लिये स्मरण शक्ति का व्यायाम करना आवश्यक है, जो कुछ पढ़ लिया उसे मन-ही-मन दोहराना अच्छा है। स्मरण-शक्ति बढ़ाने का एक सुगम उपाय अपने पढ़े हुये विषय को अपने किसी मित्र को बताना है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरों के लिये आत्म-प्रकाशन करता है, वह न केवल दूसरों का लाभ करता है वरन् अपने आपका भी सबसे बड़ा लाभ करता है। विद्या जितनी ही हम दूसरों को देते हैं, उतनी ही वह हमारे मन में पक्की हो जाती है। फिर स्नेह और सफलता की भावना से संबधित होने के कारण दूसरे को दिया गया ज्ञान हमे प्रिय हो जाता है। मनुष्य अपनी सफलता की बातों को नहीं भूलता। दूसरों की प्रशंसा प्राप्त करने के कारण और आत्म-प्रसाद के कारण वह सब समय स्मरण रहता है। फिर जब हम दूसरे को कोई बात समझाते हैं तो हमें चित्त की सम्पूर्ण एकाग्रता की आवश्यकता होती है। पुस्तक के पढ़ते समय इतनी एकाग्रता की आवश्यकता नहीं है, जितनी किसी बात को दूसरे को समझाते समय। हमें स्वयं भी उसे भली प्रकार सोचना पड़ता है। विभिन्न प्रकार के विचारों को क्रमबद्ध करना पड़ता है। उनकी संख्या ध्यान मे रखनी पड़ती है; और फिर बोलते समय सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। इन सब क्रियाओं के कारण दूसरों को समझाई गई बात के सस्कार हमारे मन में भी दृढ़ हो जाते हैं।

जो लोग अपने अध्ययन की सामर्थ्य में विश्वास खो चुके हैं; वे यदि अपने से नीचे कक्षा के विद्यार्थी को उसी विषय को पढ़ाने लग जायँ तो उन्हें पठित विषय को याद रखने में बड़ा ही लाभ हो। यदि ऐसे व्यक्ति को उस विषय का विद्यार्थी न मिले जिसे उसे पढ़ाना है, तो किसी दूसरे विषय को ही, जो उसे भली प्रकार आता हो, उसे पढ़ाने लगे। इससे भी उसे पर्याप्त लाभ होगा। इससे एक तो उसमें चित्त की एकाग्रता आयेगी और दूसरे उसे अपनी शक्ति मे विश्वास उत्पन्न होगा। मनुष्य जब चित्त की एकाग्रता खोता है, तो वह अपना आत्म-विश्वास भी खो देता है कि वह अपने चित्त को किसी भी विषय मे एकाग्र नहीं कर सकता है। बार-बार असफलता प्राप्त होने पर मनुष्य में कायरता आ जाती है, और फिर वह चित्त को एकाग्र करने की हिम्मत भी नहीं करता। चित्त एकाग्र करने की चर्चा करनेवाले व्यक्ति चित्त को एकाग्र नहीं कर पाते। किसी ऐसे काम में लग जाने से, जिसे कि व्यक्ति सफलता से कर सकता है, चित्त एकाग्र होता है। फिर जिस प्रकार असफलता की शृंखला असफलता उत्पन्न करती है; उसी प्रकार सफलता की भावना उत्पन्न होने पर मनुष्य दूसरे काम को भी सफलता से करने में समर्थ होता है। सफलता मनुष्य के आत्म-विश्वास को बढ़ाती है, और आत्म-विश्वास चित्त को एकाग्र करने का साधन बनता है।

दूसरे को पढ़ाते समय चित्त इसलिए भी एकाग्र होता है, कि ऐसे कार्य में पढ़ानेवाले व्यक्ति को रचनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है। रचनात्मक आनन्द की थोड़ी भी अनुभूति मनुष्य के चरित्र में अनेक सद्गुणों का प्रादुर्भाव करती है। जो व्यक्ति जितना ही नि स्वार्थ भाव से दूसरों को पढ़ाने मे मन लगाता है, वह अपनी मानसिक शक्तियो को उतना ही अधिक विकसित कर लेता है। स्वार्थ-भाव से दूसरे को पढ़ाना उतना लाभदायक नहीं होता, जितना नि.स्वार्थ-भाव से दूसरे को पढाना लाभदायक होता है।

हमारे पास कितने ही ऐसे विद्यार्थी आते हैं, जो दस-बारह घण्टे काम करके भी तृतीय श्रेणी में परीक्षा पास करते हैं। कभी-कभी ऐसे विद्यार्थी ठीक परीक्षा के समय पठित विषय को भूल जाते हैं। वे फिर अनिद्रा के रोग से पीड़ित हो जाते हैं अथवा किसी दूसरे रोग के शिकार बन जाते हैं। इस प्रकार की मन स्थिति का कारण इन विद्यार्थियों में आत्म-विश्वास की कमी होती है। मनुष्य में आत्म-विश्वास, तपस्या और त्याग से बढ़ता है। स्वार्थ-भावना और काम-चोरी की मनोवृत्ति से आत्म-विश्वास विनष्ट हो जाता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक स्वार्थी होता है, उसका मन उतना ही अधिक संशय किया करता है। संशय मन की ध्वंसात्मक मनोवृत्ति है। संदेह मनुष्य के बने बनाए काम को खत्म कर देता है। यदि किसी पढ़ी हुई बात को स्मरण करते समय मनुष्य को संदेह हो जाय, तो वह बात अवश्य भूल जाती है। मनुष्य के मन मे संदेह इसलिए होता है, कि उसे सदा

भय बना रहता है कि वह पठित बात को भूल जायगा। भय और चिन्ता के साथ विद्याध्ययन करने से जितनी शक्ति का व्यय करना पड़ता है, उससे मनुष्य कितना ही कार्य कर सकता है। संशयात्मक मन से जो विद्या पढ़ी जाती है, वह समय पर काम नहीं आती। संशय की वृद्धि स्वार्थ-भावना बढ़ाने के साथ-साथ होती है। उदार व्यक्ति के मन को सदेह नहीं सताते। इसलिए यदि विद्या का अध्ययन अपने लाभ के लिए नहीं, वरन् समाज के लाभ के लिए किया जाय; तो वह चिर-स्थायी हो जाता और समय पर काम आता है। इसी प्रकार दूसरों को समझाते हुए जिस ज्ञान को हम प्राप्त करते हैं वह हमारी स्थायी सम्पत्ति बन जाती है; क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान के उपार्जन के समय हमें यह संशय नहीं रहता कि वह ज्ञान हमें समय पर काम न देगा।

अधुनिक मनोविज्ञान के एक महान पंडित डा० विलियम बाऊन का कथन है कि मनुष्य अपने अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियों की वृद्धि प्रतिदिन के आत्म-निर्देश से कर सकता है। आत्म-निर्देश के द्वारा मनुष्य अपने चित्त की एकाग्रता, स्मरण-शक्ति, इच्छा-शक्ति और आत्म-विश्वास को बढ़ा सकता है। आत्म-निर्देश मन और शरीर के शैथिलीकरण की अवस्था में अपने आप को दिया जाता है। मन को शान्त करके जिस प्रकार का विचार मनुष्य धारण करता है, वह उसके बाहरी मन से अन्तर्मन में प्रवेश कर जाता है; और फिर मनुष्य का व्यक्तित्व उसी विचार के अनुसार निर्मित होने लगता है। मनुष्य के चेतन मन की शक्ति सीमित है; परन्तु अचेतन मन की शक्ति अपार है। मन के शैथिलीकरण की अवस्था में मनुष्य इस अचेतन मन से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। जब इस मन से सम्पर्क स्थापित हो जाता है, तो एक ही दिन की पढ़ी हुई बात बहुत समय तक याद रहती है। जो मनुष्य अपने मन को बार-बार सुझाते रहता है कि वह पढ़ी हुई बात को भूल जायगा, वह उसे भूल जाता है। मनुष्य अपनी सभी प्रकार की शक्तियों को शुभ निर्देश द्वारा बढ़ा सकता है। किसी प्रकार के शुभ-निर्देश की सफलता के लिए उतने ही त्याग की आवश्यकता है, जितनी की प्राप्ति की हम आकांक्षा करते हैं। सब के हित का चिंतन करने वाले व्यक्ति को सब समय ही शुभ निर्देश मिलते रहते हैं। उसका सामान्य चेतना में भी विराट पुरुष से सम्पर्क रहता है; परन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए भी यह आवश्यक है कि वह समय-समय पर समाज से अलग होकर अपने आप को मानसिक शैथिली-करण की अवस्था में छोड़ दे; और देश काल तथा कार्य-कारण भाव के परे तत्व में अपनी चित्तवृत्तियों को लय करे। प्रति-दिन के इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की न केवल चित्त की एकाग्रता, स्मरण शक्ति और इच्छा-शक्ति बलवान हो जाती है, वरन् उसमें अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियों का प्रादुर्भाव भी होता है। ऐसे व्यक्ति की विद्या समय पर उसके काम आती है।

आधुनिक मानसिक चिकित्सा

मानसिक रोगों की चिकित्सा के दो प्रकार हैं; एक भौतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक। भौतिक चिकित्सा में औषधियों अथवा बिजली के झटकों का प्रयोग किया जाता है; और मनोवैज्ञानिक चिकित्सा में भावों और विचारों के बदलने की चेष्टा भावों तथा विचारों के द्वारा ही की जाती है।

औषधियों का प्रयोग रोगी के पेट साफ करने, पाचन क्रिया को बढ़ाने और रुधिर-प्रवाह को ठीक करने के लिए तथा निद्रा लाने के लिए किया जाता है। शरीर की दशा सुधरने से और विशेष कर नींद के आ जाने से मानसिक क्रियायें अपने आप ही ठीक हो जाती हैं। दूसरे, मानसिक रोग में स्नायुओं का दौर्बल्य होता है। इस दुर्बलता को हटाने से रोग अच्छा हो जाता है। यदि रोगी के शारीरिक सुधार से भी एक बार मन की गति ठीक हो जाय, तो फिर यह बाद में अपने आप ही ठीक रहती है। बिजली के झटके शारीरिक जड़ता को हटाने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। शरीर में उथल-पुथल होने से मानसिक उथल-पुथल हो जाती है, और फिर किसी-न-किसी प्रकार कभी-कभी रोगी को लाभ हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक चिकित्सा में शरीर के द्वारा मन को प्रभावित करने की अपेक्षा सीधे मन को ही प्रभावित करने की चेष्टा की जाती है। यह चिकित्सा दो प्रकार की होती है; एक पराश्रित और दूसरी स्वाश्रित। पराश्रित चिकित्सा में रोगी अपने आप को चिकित्सक के ऊपर आरोग्य प्रदान करने के लिए छोड़ देता है। जितना ही रोगी का चिकित्सक पर अधिक विश्वास होता है, उतना ही रोगी को अधिक लाभ होता है। रोगी के मन में विश्वास उत्पन्न करने के लिए चिकित्सक के मन में रोगी के प्रति स्नेह और सच्ची सद्भावना का रहना नितान्त आवश्यक है। चिकित्सक जितना ही उदार मनोवृत्ति का होगा रोगी को उतना ही शीघ्र और स्थायी लाभ होगा।

पराश्रित चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है एक निर्देशात्मक और दूसरी विश्लेषणात्मक। पुरानी पद्धति निर्देश की है और नवीन विश्लेषण की। झाड़-फूँक के द्वारा भूत बाधाओं का हटाना, सम्मोहन द्वारा हिस्टीरिया और लकवा ठीक करना निर्देश विधि के उदाहरण हैं। इस विधि का उपयोग मेस्मर और एमील कूए करते थे। मनोविश्लेषण विधि का आविष्कार डा० फ्रायड ने किया। इस विधि में रोग के कारण जानने की चेष्टा की जाती है। इसके लिए रोगी की जीवनी, उसके विस्मृत भावात्मक अनुभव; उसके स्वप्न और भविष्य-सम्बन्धी

कल्पनाओं का अध्ययन किया जाता है। रोगी के दमित भाव चेतना की सतह पर आने से समाप्त होते हैं। डा० फ्रायड के अनुसार मनोविश्लेषण से रोगी चिकित्सक को स्नेह करने लगता है और यही उसके रोग की समाप्ति का कारण होता है।

स्वाश्रित मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मे रोगी चिकित्सक से सलाह लेकर अपना सुधार अपने आप ही करता है। जिस प्रकार छोटी कक्षाओं का बालक शिक्षक पर अपने मनोविकास के लिए निर्भर करता है और बड़ी कक्षा का बालक अपनी शिक्षा स्वयं कर लेता है, उसी प्रकार हीन अवस्था का रोगी मानसिक चिकित्सक पर निर्भर करता है; परन्तु जब वह कुछ आत्म-विश्वास प्राप्त कर लेता है तो अपने मन का निर्माण स्वयं करने लगता है। स्वाश्रित चिकित्सा दो प्रकार की होती है एक आत्म-निर्देशात्मक और दूसरी आत्म ज्ञानात्मक। डा० विलियम ब्राउन ने पहले प्रकार की मनसिक चिकित्सा की बड़ी उपयोगिता बताई है। अपनी मानसिक शक्तियों को बढ़ाने के लिए प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति इसे काम मे ला सकता है। इस विधि के द्वारा काशी मनोविज्ञानशाला के कुछ साधक शारीरिक रोगों से न केवल मुक्त हुए वरन् कुछ चिकित्सक बन गए और कुछ अनेक प्रकार से दुखी व्यक्ति विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में सर्वप्रथम आने लगे।

आत्म-ज्ञान मानसिक चिकित्सा की सर्वोत्कृष्ट विधि है। इसे डा० विलियम ब्राउन ने 'आटोग्नोसिस' कहा है और डा० हेडफील्ड ने इसे 'रिडक्टिव एनालिसिस' कहा है। इस विधि में मनुष्य अपने भयावने विचारों से भागने की चेष्टा न कर उन्हें अपने सामने आने की छूट दे देता है। जिन विचारों को हम गन्दे समझते हैं वे ही भयकर बन जाते हैं। जब हम उन्हे अपने व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग समझ कर उचित स्थान दे देते हैं तो वे अपनी शक्ति हमें प्रदान करते हैं। यह आत्म-रेचन की विधि है। आदर्शवादी व्यक्तियों को आत्म-रेचन करते रहना नितांत आवश्यक है। दबे, गन्दे, दुष्ट और भयावने विचारों को थोड़े समय के लिए चेतना की सतह पर आने की छूट दे देना चाहिए। जब यह नहीं किया जाता तो व्यक्ति पागलखाने की तैयारी कर लेता है। फिर जिस प्रकार भगवान बुद्ध को निर्वाण के समय मार-दर्शन हुआ सभी लोगों को यह मार दर्शन होता है। इस दर्शन से हमारा सम्पूर्ण मन हमारा मित्र बन जाता है।

आत्म-रेचन मानसिक सम्पूर्णता लाने की पहली सीढ़ी है। आत्म-रेचन के साथ-साथ जीवन के एक नए दृष्टिकोण, एक नए दर्शन का निर्माण होता है। यह दृष्टिबिन्दु समन्वयात्मक होता है। इस दृष्टि बिन्दु से मनुष्य अपनी

सभी अकल्याणकारी बातों में भलाई देखने लगता है। संसार के प्रमुख मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जब तक मनुष्य को उचित दर्शन नहीं प्राप्त हो जाता तब तक वह अपने मानसिक रोग से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। मनुष्य को मानसिक रोग उसके गत दृष्टिकोण से मुक्त करने के लिये होते हैं। जब सही दृष्टिकोण आ जाता है तो रोग चला जाता है। जो व्यक्ति संसार को चलानेवाली न्याययुक्त सत्ता के आजीवन में विश्वास करता है उसे मानसिक रोग नहीं होता, यदि रोग हो गया हो तो इस दृष्टिविन्दु के प्राप्त होने पर स्थायी रूप से नष्ट हो जाता है।

सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक चिकित्साओं में रोगी की आरोग्य-प्राप्ति की अपनी इच्छा का बड़ा ही महत्व है। भौतिक चिकित्साओं में इसका महत्व नहीं है। इसीलिए भौतिक चिकित्साएँ अधूरी और अस्थायी होती हैं। जब तक स्वयं रोगी में स्वस्थ रहने की और अपनी उन्नति की अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो जाती उसे स्थायी लाभ होना कठिन है। मनोवैज्ञानिक का कार्य रोगी में नया उत्साह, आत्म-विश्वास और प्रयत्न की इच्छा जाग्रत करने में है। रोगी में ये सब बातें आ गई तभी उसे स्वस्थ मानना चाहिए।

मानसिक चिकित्सा में साक्षी भाव का महत्व

प्राचीन काल से भारतवर्ष में साक्षी भाव से संसार की घटनाओं को देखने की शिक्षा दी जाती रही है। संसार की कुछ घटनायें हमारे अनुकूल होती हैं और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल घटनाओं से हम प्रसन्न होते हैं और प्रतिकूल घटनाओं से दुःखी होते हैं। इस प्रकार हमारा मन सदा डावॉडोल अवस्था में रहता है। सुखी मनुष्य वह है जो अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की अवस्था मे निश्चल मन रहे। इसके लिए मनुष्य को घटनाओं के प्रति साक्षी भाव रखना आवश्यक है। दूसरा भाव जिसका हम अभ्यास कर सकते हैं वह शिव भाव है। सभी प्रकार की घटनायें हमारे अनुकूल ही होनी हैं, जो घटनायें आज प्रतिकूल दिखाई देती हैं वे अन्त में अनुकूल ही सिद्ध होंगी इस प्रकार का भाव मन में रखने से वास्तव में प्रतिकूल घटानयें अनुकूल बन जाती हैं। परन्तु यह शिव भाव लाने के लिए पहले साक्षी भाव का अभ्यास करना आवश्यक है।

साक्षी भाव इच्छा के त्याग का भाव है। इच्छा के त्याग देने पर ही प्रतिकूल परिस्थितियाँ अनुकूल बनती हैं। जब तक हम अपनी परिस्थितियों से विशेष प्रकार का लाभ चाहते हैं तब तक वे हमारा लाभ नहीं करतीं। उनसे कभी-कभी हमारी हानि ही होती है। इच्छा मनुष्य की चेतनमन की बात है। ससार की गति चेतन मन के अनुसार नहीं होती; ससार की गति मनुष्य की गम्भीर चेतना से समन्वय रखती है। जो बात मनुष्य अपनी चेतना से चाहता है कभी कभी वही बात उसका गम्भीर अचेतन मन नहीं चाहता। ससार की घटना इस गम्भीर अचेतन मन द्वारा संचालित होती हैं। अतएव जब कोई बात हमें अपने प्रतिकूल होती दिखाई दे तो हमें न समझना चाहिये कि वह वास्तव में हमारे प्रतिकूल ही है। हमारा चेतन मन जितना हमारा स्वार्थ जानता है उससे अधिक हमारा अचेतन मन हमारा स्वार्थ जानता है। अतएव अचेतन मन की भावना ही सफल होती है।

उक्त सत्य को मानसिक रोगी के मन की जांच करने पर भली प्रकार से देखा जा सकता है। कुछ काल पूर्व एक महिला की बड़ी पीड़ा देने वाले रोग की लेखक चिकित्सा कर रहा था। उस महिला को इस चिकित्सा से बड़ा लाभ हुआ। महिला को विषाद का मानसिक रोग था और हाथ पैर तथा

शरीर फूल जाने का शारीरिक रोग था। जब वह पर्याप्त लाभ प्राप्त कर चुकी थी तब एक दिन एकाएक उस महिला ने कहा

"पंडितजी क्या आप मुझे वास्तव में निरोग बना देंगे।"

मैंने कहा "मै तुम्हें निरोग बनाने के लिए ही तो आया हूँ।"

तब उसने कहा "फिर तो मेरा जीना ही कठिन हो जायगा।"

मैंने पूछा "यह क्यों।"

महिला ने कहा "जब मै सचमुच रोग से पीड़ित हूं तब भी लोग कहते हैं कि यह तो झूठे बहाना कर रही है। जब मेरा शारीरिक रोग चला जायगा तब तो आलोचना की बौछार इतनी पड़ेगी कि मेरा जीना भी कठिन हो जायगा।"

मैंने कहा "अब तुम अपने रोग का कारण तो समझ गई। तुम्हारा रोग तुम्हारी जान बचाने के लिये आवश्यक है। मैं इसे तुमसे एका-एक नहीं ले लूँगा।"

जो बात इन महिला के विषय में सत्य है वही सभी रोगियों के विषय में सत्य रहती है। जो रोगी अपने रोग से बहुत ही परेशान रहता है और उससे शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होना चाहता है वह वास्वत मे भीतरी मन से उस रोग को चाहता है। उसकी परेशानी उसके बाहरी मन की बात रहती है। जब रोगी अपने रोग के प्रति उदासीन हो जाता है तो उसका रोग धीरे-धीरे चला जाता है। रोग के प्रति उदासीन होना, उसके प्रति मैत्री भाव रखना अथवा उसे साक्षी भाव से देखना तभी संभव होता है जब कि व्यक्ति का अचेतन मन रोग को अपने लिये आवश्यक नही समझता। इस प्रकार चेतन मन की चाह के प्रतिकूल अचेतन मन की चाह होती है और जब एक स्थान पर मनोदशा का परिवर्तन हो जाता है तो दूसरी दशा पर भी मनोदशा का परिवर्तन हो जाता है। हम अपने अचेतन मन मे तो सरलता से परिवर्तन कर नहीं सकते, तब हमें अपने चेतन मन मे ही परिवर्तन करना चाहिये। चेतन मन का परिवर्तन अचेतन मन को भी प्रभावित करता है। यदि मनुष्य अपने चेतन मन द्वारा चाही गई वस्तु का त्याग कर दे तो उसका अचेतन भी अपनी हठ को छोड़ दे। इस प्रकार जिस वस्तु को हम पहले चाहते थे वही मिल जाती है। इसी प्रकार यदि रोगी अपने किसी रोग से मुक्त होना चाहता है तो उस रोग के प्रति मैत्री-भाव स्थापित करे। इससे रोग के प्रति द्वेष भाव समाप्त हो जायेगा। द्वेषभाव के समाप्त होने पर ही साक्षीभाव आ जाता है। जब

मनुष्य रोग के प्रति साक्षीभाव स्थापित कर लेता है तब वह उसका चिन्तन ही नहीं करता। जब रोग के विषय में चिन्तन करना बन्द हो जाता है तभी रोग समाप्त होता है।

जिस प्रकार बाहरी परिस्थितियों के प्रति साक्षीभाव रखने से वे परिस्थितियाँ परिवर्तित हो जाती हैं, इसी प्रकार मानसिक परिस्थितियों के प्रति साक्षी-भाव रखने से वे परिस्थितियाँ भी परिवर्तित हो जाती हैं। सामान्य लोग बाहरी परिस्थितियों से परेशान रहते हैं और उनकी अनुकूलता चाहते हैं। उच्चतम व्यक्ति आन्तरिक परिस्थितियों से परेशान रहते हैं, और उन्हें सुधारने की चेष्टा करते रहते हैं। संसार का सबसे बड़ा पुरुषार्थ अपने मन को सुधारना है।

मानसिक चिकित्सक रोगी के मन को सुधारने की चेष्टा करता है। रोगी अपने मनोभावों को चिकित्सक के प्रति व्यक्त करता है। भावों को व्यक्त करने से उनकी प्रबलता कम हो जाती है। जिस भाव को हम केवल अपने आप में ही रखते हैं वह प्रबल हो जाता है। जिस भाव को हम दूसरे के समक्ष व्यक्त करते हैं वह दुर्बल हो जाता है। दबा भाव व्यक्त होने पर सुधर जाता है। वह अपने मूल रूप को धारण कर लेता है। भाव दबने पर विकृत होता है। दबाये जाने पर प्रेम ही घृणा का रूप धारण कर लेता है। जब रोगी अपने दबे घृणा के भाव को किसी व्यक्ति के समक्ष प्रगट करता है तो वह भाव घृणा से बदल कर प्रेम रूप हो जाता है और फिर यह प्रेम अपने चिकित्सक के प्रति आरोपित हो जाता है। अब चिकित्सक इस भाव को योग्य व्यक्ति के प्रति दे देता है। वह इसके मार्गान्तिरीकरण में सहायक होता है। यह मनोविश्लेषण की चिकित्सा-प्रणाली है।

परन्तु यह सब कार्य रोगी के अनजाने ही होता है। मनो-विश्लेषण का दूसरा स्थायी परिणाम अपने ही भावों के प्रति साक्षीभाव का उत्पन्न होना है। जहाँ भावों के आरोपण से मनुष्य विशेष प्रकार के रोग से मुक्त हो जाता है, साक्षीभाव की प्राप्ति से वह उसी प्रकार के सभी रोगों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की प्रणाली को प्रोफेसर हेडफील्ड ने रिडक्टिव एनालेसिस कहा है। इस प्रणाली में व्यक्ति अपने सभी पुराने अनुभव को स्वतः चेतना की सतह पर आने की छूट देता है। जब उसकी अनेक प्रकार की दमित भावनायें चेतना के स्तर पर आ जाती हैं तो वह उन पर विचार करता है। इस प्रकार के विचार से वे समाप्त हो जाती हैं। दबी वासनायें चेतना के स्तर पर

जाने के लिये मनुष्य को अपने ही प्रति साक्षीभाव धारण करना आवश्यक होता है।

साक्षीभाव न केवल दबी वासनाओं को चेतना की सतह पर लाने के लिए आवश्यक है, वरन् उनके समाप्त होने के लिए भी आवश्यक है। मनुष्य के मन में भली और बुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। उसके मन में भले और बुरे दोनों प्रकार के आवेग उठते हैं। ये आवेग उसके भीतरी मन में उसके अनजाने अन्तर्द्वन्द उत्पन्न करते रहते हैं। व्यक्ति इस प्रकार के मानसिक द्वन्द्व को रोकने मे असमर्थ रहता है, क्योंकि ये चेतना की सतह के नीचे होते हैं। मनुष्य का पहला काम इस द्वन्द्व को चेतना की सतह पर लाना है। इसके लिए किसी प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ होता है। जो व्यक्ति अपने भीतरी मन में चलनेवाले द्वन्द्व के विषय मे सोचता है वह अपने विषय में और भी अन्धकार में पड जाता है। इसलिए ही मानसिक रोगी को सलाह दी जाती है कि वह अपने विषय मे सोचना बन्द कर दे और अपने आपको किसी रचनात्मक कार्य में लगा दे।

परन्तु द्वन्द्व अपने मन के प्रति साक्षीभाव धारण करने से मानसिक चेतना की सतह पर चला आता है। जो व्यक्ति साक्षीभाव में जितना ही अधिक आरूढ़ होता है अपने भीतरी मानसिक द्वन्द्व को समाप्त करने में उतना ही सफल होता है। साक्षीभाव धारण करने का अर्थ है कि जिस प्रकार मनुष्य बाहरी घटना के होने मे तटस्यता का भाव रखता है, इसी प्रकार मन में चलनेवाली क्रियाओं के प्रति वह तटस्थता का भाव रखता है। वह किसी विशेष प्रकार का चिन्तन नहीं करता, परन्तु मन मे आनेवाले विचारो को रोकता भी नही। इस प्रकार के अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य के मन में केवल साधारण घटनाये ही आती हैं। पीछे धीरे-धीरे अतीत काल की लज्जा, ग्लानि, शोक, घृणा, अपमान आदि दुःखद भावों से भरी घटनाये आने लगती हैं। हमें ज्ञान होने लगता है कि हमारा मन मानो एक भारी फिल्म के समान है जो धीरे-धीरे अपने आप हमारे सामने खुलती जाती है। इस फिल्म को खुलने की छुट्टी देने पर सारी दुःखमय व्याधियाँ समाप्ति हो जाती हैं।

साक्षीभाव का अभ्यास मानसिक स्वास्थ्य की चरम सीमा है। मानसिक रोगी से साक्षीभाव का अभ्यास सरलता से नहीं होता। परन्तु जैसे जैसे वह स्वास्थ्य लाभ करते जाता है वह अपने मन के प्रति साक्षीभाव धारण करने लगता है। मानसिक रोगी सामान्य व्यक्तियों से इस बात में श्रेष्ठ है कि वह

जान लेता है कि संसार की परिस्थितियाँ मनुष्य को सुखी अथवा दुःखी बनाने में उतना महत्व नहीं रखतीं, जितना उसका मन महत्व रखता है। अतएव वह बाहरी परिस्थितियों की अपेक्षा अपने मन को सुधारने के लिये ही अधिक प्रयत्नशील होता है। इसके कारण अपने मन को वश में रखने के उपायों को वह अधिक सरलता से सीख लेता है। जिसे किसी प्रकार की मानसिक व्याधि नहीं हुई उसे आध्यात्मिक बातों के जानने की आवश्यकता ही क्या! ऐसा व्यक्ति जीवन भर भावों की दृष्टि से बच्चा ही बना रहता है।

शिथिलीकरण की प्रक्रिया

संसार के अधिक व्यक्ति सदा मानसिक खिंचाव की अवस्था में बने रहते हैं। मानसिक रोग की अवस्था में यह मानसिक खिंचाव अत्यधिक बढ़ जाता है। मानसिक खिंचाव किसी प्रकार की इच्छा के बढ़ने से उत्पन्न होता है। हमारी कुछ इच्छाएँ हमे ज्ञात रहती हैं और कुछ अज्ञात रहती हैं। जिन इच्छाओं को हम दबा देते हैं वे हमारे अचेतन मन की वस्तु बन जाती हैं और मानसिक खिंचाव को उत्पन्न करती हैं। यह मानसिक खिंचाव अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न करता है।

मनुष्य का मानसिक खिंचाव स्नायुओं का खिंचाव भी बन जाता है। जब किसी प्रकार की प्रबल इच्छा दब जाती है तो यह अचेतन में पहुँच कर अपना रूप ही बदल देती है। इस प्रकार स्नेह घृणा मे परिवर्तित हो जाता है और किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उसके प्रति मन मे परिणत हो जाती है। काम-वासना दमित हो जाने पर वह नपुंसकता अथवा उसके प्रति घृणा के रूप में परिणत हो जाती है। कुछ लोगों को काम चेष्टाओं की परिस्थिति में आने पर वमन का रोग हो जाता है। इस प्रकार दमित इच्छा ठीक अपने प्रतिकूल भावों में होती हैं। ऐसी अवस्था में भारी स्नायुयों का खिंचाव भी बना रहता है। हिस्टीरिया, न्यूरेसथेलिया और विषाद के रोगिओं को एक ओर मानसिक बेचैनी रहती है और दूसरी ओर स्नायुओं का खिंचाव रहता है।

इस प्रकार के खिंचाव का अन्त मानसिक शिथिलीकरण से होता है। मानसिक शिथिलीकरण की प्राप्ति के लिये पहले पहल शारीरिक शिथिलीकरण करना पड़ता है। शारीरिक क्रियाओं का मन की अवस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। फिर शारीरिक क्रियाएं स्थूल होती हैं और मन की क्रियाएँ सूक्ष्म। यदि हम किसी सूक्ष्म वस्तु को प्रभावित करना चाहते हैं तो स्थूल से ही प्रारंभ करना भला है।

मानसिक शिथिलीकरण की प्राप्ति के लिये मनुष्य को शान्त स्थान मे एक बिस्तर पर लेट जाना चाहिये। फिर अपने शरीर के एक-एक अंग पर ध्यान देते हुए उसे शान्त भाव का निर्देश दें। उसे पहले पहल हाथ से प्रारंभ करना चाहिए। हाथ, पैर, पिढ़ली, जाघ, भुजा, पेट, हृदय और फिर मस्तिष्क के शिथिलीकरण का अभ्यास करना आवश्यक होता है। जब शरीर आराम मे हो जाता है तो उसका प्रभाव मन पर भी पड़ता है। इस प्रकार के शिथिलीकरण के करते समय अपनी श्वास पर भी ध्यान देने से अधिक लाभ होता है।

डाक्टर विलियम ब्राऊन ने बताया है कि यदि कोई व्यक्ति एक बिस्तर पर लेटकर पूरा श्वास धीरे-धीरे खींचकर धीरे-धीरे छोड़े तो वह देखेगा कि श्वास

छोड़ते समय उसके शरीर के विभिन्न अंग में अपने आप ही आराम की अनुभूति होने लगेगी, अर्थात् वे शिथिलीकरण की अवस्था में आवेंगे। यह आराम हाथ और पैर की अंतड़ियों से प्रारम्भ होकर आगे की ओर बढ़ता है और फिर सारे शरीर में फैल जाता है। इस प्रकार का अभ्यास करते-करते रोगी को नींद आ जाती है। इस प्रकार की नींद बड़ी स्वास्थ्य-प्रद होती है। इस अवसर पर यदि चिकित्सक रोगी के समीप बैठा हो तो उसे लाभ और भी अधिक होता है। चिकित्सक के व्यक्तिगत अनुपस्थिति की अवस्था में उसकी कल्पना मात्र लाभ-प्रद होती है। यदि चिकित्सक रोगी को "पास" देकर सो जाने का निर्देश देवें तो और भी अच्छा है। परन्तु इसके अभाव में भी लाभ होता है।

डा० विलियम ब्राऊन का उक्त कथन सर्वथा अनुभव सिद्ध है। एक बार लेखक के पास एक ऐसा कालेज का विद्यार्थी आया जिस को हृदय का रोग चार साल से था। उसने कई प्रकार की भौतिक चिकित्सा कराई थी, परन्तु उसका रोग नहीं गया था। रोगी से स्नेह का व्यवहार किया गया और उसे अपने जीवन की सभी घटनाओं को सुनाने के लिए कहा गया। इसमे पर्याप्त समय लगा। जीवन की गुप्त घटनाओं को सुनने से रोगी और चिकित्सक के बीच हार्दिक एकता उत्पन्न हो जाती है। यह एकता की अनुभूति से रोगी को मानसिक शिथिलीकरण की अवस्था प्राप्त करना सरल हो जाता है। फिर इस विद्यार्थी के सिर को अपनी गोदी मे रख कर उपर्युक्त शिथिलीकरण का अभ्यास करने को कहा गया। धीरे-धीरे उसके सिर और हृदय पर हाथ फेरा गया। उसे थोड़े ही समय में नींद आ गई। वह दो घण्टे तक सोता रहा। बीच-बीच में उनके शरीर पर हाथ फेर दिया जाता था। रोगी की सुप्तावस्था में इस प्रकार स्नेहपूर्वक शुभकामना-युक्त होकर हाथ फेरना विशेष प्रकार से लाभदायक होता है। यह हाथ का फेरना रोगी के अचेतन मनको प्रभावित करता है। वास्तव में सभी रोगी निःस्वार्थ स्नेह के भूखे होते हैं। इसी स्नेह के न पाने से मानसिक खिंचाव उत्पन्न होता है। जब उनको यह स्नेह मिल जाता है तो मानसिक खिंचाव सरलता से हट जाता है।

इस विद्यार्थी को पहले ही दिन पर्याप्त लाभ हो गया। फिर उससे कहा गया कि वह प्रति-दिन कल्पना में अपने सिर को चिकित्सक की गोदी में रखकर उसी प्रकार शिथिलीकरण का अभ्यास करते-करते सो जावें जिस प्रकार का अभ्यास उसने पहले दिन किया था। इस तरह की प्रणाली से रोगी का रोग दो सप्ताह में ही सदा के लिए चला गया। आज वह व्यक्ति मनोविज्ञान-शाला का एक बड़ा ही

उपयोगी कार्यकर्त्ता है। इसका स्नेह अपार है और अपने सभी साथियों की सेवा के लिए यह सदा तत्पर रहता है।

एक दूसरे विद्यार्थी से भी उपर्युक्त प्रकार का अभ्यास हकलाहट से मुक्त होने के लिए कराया गया। यह विद्यार्थी अपना नाम भी नहीं ले पाता था। पिछले मनोवैज्ञानिक सम्मेलन में (जनवरी १९५६) इसने काशी विश्वविद्यालय के कुलपति के समक्ष मनोविज्ञान-शाला की प्रेम-चिकित्सा प्रणाली पर एक बड़ा प्रभावकारी भाषण दिया जिसमें उसने अपने हकलाहट से मुक्त होने की चर्चा की और बताया कि इसी प्रकार मैत्री-भावना के अभ्यास से मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों से मुक्त हो सकता है। इस विद्यार्थी ने अपने व्याख्यान में बताया कि हकलानेवाला व्यक्ति वास्तव में अपने भावों को किसी विशेष व्यक्ति के समक्ष व्यक्त नहीं करना चाहता। वह उसके भीतरी मन से डरता है और उससे घृणा करता है। परन्तु उसे ऊपरी मन से दूसरे भाव ही दिखाने पड़ते हैं। अतएव वह हकलाने लगता है। फिर प्रत्येक व्यक्ति इस विशेष व्यक्ति का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार वह समाज के सभी लोगों के सामने हकलाने लगता है। उसे डर हो जाता है कि ये लोग उसकी आलोचना करते होंगे। यह डर हकलाने के लिए उसे विवश कर लेता है। यदि वह सभी लोगों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करे तो वह अपने रोग से मुक्त हो जावे।

वास्तव में हकलानेवाला रोगी मानसिक खिंचाव की अवस्था में सदा रहता है। यदि उससे शिथिलीकरण का अभ्यास कराया जाय तो उसे तुरंत लाभ हो। यह अभ्यास पश्चिम के लोग भी कराते हैं। परन्तु वे अधिकतर शारीरिक शिथिलीकरण तक ही उसे सीमित रखते हैं। शारीरिक शिथिलीकरण मानसिक शिथिलीकरण प्राप्ति की एक सीढ़ी मात्र है। वह सब कुछ नहीं है। शारीरिक शिथिलीकरण के बाद मानसिक शिथिलीकरण का होना आवश्यक है। इसके लिये रोगी और चिकित्सक के प्रति स्नेह का वातावरण होना और उन दोनों में हार्दिक एकता का अनुभव होना आवश्यक है। बिना स्नेह के मानसिक शिथिलीकरण की प्राप्ति नहीं होती।

शिथिलीकरण के लिये निष्क्रिय होना आवश्यक नहीं। आलसी लोग आराम की अवस्था में नहीं रहते। रोगी प्राय निकम्मे हो रहते हैं और निकम्मेपन से उनका रोग घटने के बदले और बढ़ जाता है। निकम्मेपन की अवस्था में मनुष्य अपनी अथवा दूसरों की बुराइयों के बारे में ही अधिक सोचता है अथवा वह अपने रोग के विषय में ही चिन्तित रहता है। इनसे मानसिक शारीरिक खिंचाव दिन प्रति-दिन बढ़ता जाता है। अतएव किसी न किसी रचनात्मक-

काम में रोगी को लगा देना उसे रोग से मुक्त करने के लिये नितान्त आवश्यक है। कहा गया है बैठे से बेगार भली, रचनात्मक कार्य मन में रचनात्मक आनन्द की अनुभूति कराता है, और आनंद का अनुभव मनुष्य के मानसिक खिंचाव का अन्त करता है।

मनुष्य के आनंद दो प्रकार के होते हैं एक प्राप्ति का आनंद और दूसरा देने का आनंद। पहले प्रकार का आनंद सुख कहलाता है। यह मनुष्य के मन को कमजोर बनाता है। सुख का अनुभव उसकी चाह को बढ़ाता है और यह मानसिक खिंचाव को उत्पन्न करता है। रचनात्मक आनंद का परिणाम ठीक इसके प्रतिकूल होता है। यह लेने का नहीं देने का आनंद है। रचनात्मक कार्य के पश्चात् मनुष्य अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है। इससे उनकी व्यक्तिगत इच्छा भी समाप्त हो जाती है और अनेक प्रकार के ज्ञात और अज्ञात मानसिक खिंचाव का सरलता से अन्त हो जाता है।

साधारण लोगों के मानसिक खिंचाव का अन्त सब समय लोक-कल्याण के कार्य में अपने आपको लगाने से होता है। सबकी भलाई में लगे हुए व्यक्ति के मन में वे दोष उत्पन्न नहीं होते जो निकम्मे अथवा स्वार्थी व्यक्ति के मन में उत्पन्न होते हैं। स्वार्थी मनुष्य अपनी शक्ति को व्यय होने से बचाता है। यह बची हुई शक्ति ही रोग बन जाता है।

हाल में ही लेखक के पास एक विद्यार्थी एम० ए० कक्षा का बाहर के विश्वविद्यालय से आया। इसे दो बच्चे हैं, परन्तु उसे नपुंसकता का भ्रम हो गया है। इसके कारण वह अपना मन पढ़ाई में एकाग्र नहीं कर सकता। किशोरावस्था की कुटेवों के विषय में जो भय उसके मन में "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" जैसी पुस्तकों के पढ़ने से उत्पन्न हुए उसे वह सोचने लगा कि उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो गई है और अब निकम्मा हो चुका है। उसे अपना जीवन भार-रूप हो गया है। शरीर में यह युवक पूर्ण स्वस्थ है, परन्तु मन से नपुंसक बन गया है। इसका प्रभाव उसकी शारीरिक क्रियाओं पर भी पर्याप्त पड़ता है। इस व्यक्ति को जब कहा गया कि वह अपने से कमजोर विद्यार्थियों की पढ़ाई में सहायता करे तो उसने कहा कि इस कार्य में उसका मन ही नहीं लगता, वह तो सभी स्वस्थ लोगों से ईर्ष्या करता है। कुछ दिनों पूर्व उसके पिता समाज सेवा का बहुत-सा काम करते थे। परन्तु उनकी सेवा पानेवाले लोगों ने उनकी कोई भलाई नहीं की, अतएव वे दूसरों की सेवा का काम मूर्खतापूर्ण मानने लगे हैं। वे अब ऐसा काम न केवल अपने आप ही नहीं करते वरन् अपने सम्बन्धियों को भी नहीं करने

देते। विद्यार्थी की बुद्धि इन्हीं विचारों से प्रभावित हो गई है, और इसका परिणाम वह रोगी बन गया है।

जब कोई मनुष्य दूसरे व्यक्ति को बढ़ाने की चेष्टा पूरे मन से करता है तो वह अपने आप भी अनायास आगे बढ जाता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भला काम स्वयं अपना ही पुरस्कार है। भले काम करने से मनुष्य के मानसिक खिंचाव का अन्त हो जाता है। भले काम करने से मनुष्य में आत्म-विश्वास की वृद्धि होती है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति के लिये कठिन परिश्रम करता है वह समय पड़ने पर अपने आपके लिये भी कठिन परिश्रम् कर लेता है।

शिथिलीकरण प्राप्ति का एक सामान्य उपाय अपने आपको साहित्य कला और संगीत में लगा देना है। परन्तु यहां यह भी स्मरण रखना है कि रचनात्मक कार्य ही मानसिक खिंचाव को कम करता है। संगीत कला और साहित्य का ग्रहणात्मक आनंद अर्थात् इन्द्रिय सुख मानसिक खिंचाव को ही बढ़ाता है। अपने मानसिक खिंचाव को दूर करने के लिये बहुत से लोग सिनामा देखते हैं, शराब पीते हैं, अथवा वेश्यागमन करते हैं। परन्तु इस प्रकार थोड़े काल के लिये वे आराम पाकर फिर मानसिक खिंचाव की अवस्था में आ जाते हैं। किसी प्रकार का इन्द्रिय सुख अन्त में दुःख की उत्पत्ति करता है। जब मनुष्य इन सुखों पर आश्रित हो जाता है तो वह अपने आपका भरोसा खो देता है। ऐसी अवस्था में वह दयनीय हो जाता है।

किसी प्रकार के सुख का भोग इच्छाओं की वृद्धि करता है। जितना ही भोग किया जाता है मानसिक दुर्बलता उतनी ही बढ़ती जाती है। इनसे अनेक प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं। अतएव मनुष्य को बरबस बहुत-सी इच्छाओं को दबाना पड़ता है। ये दबी इच्छाये फिर मानसिक खिंचाव उत्पन्न करती है। खाली मन में सुख की इच्छायें अपने आप ही उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव रचनात्मक कार्य में अपने आपको लगाये रखना मानसिक खिंचाव को हटाने के लिये नितांत आवश्यक है। इससे मनुष्य को मानसिक शिथिलीकरण प्राप्त होता है। मनुष्य को अधिक थकानेवाली वस्तु कामना ही किसी प्रकार की चिन्ता है। चिन्ता का निराकरण रचनात्मक कार्य से होता है।

नये मनोवैज्ञानिक प्रयोग

आधुनिक काल मे मनोविज्ञान के क्षेत्र में बड़े महत्व की खोजें हुई है। उन खोजों का साधारण उद्देश्य लौकिक जीवन में सफलता प्राप्त करना मात्र रहा है। मनुष्य की बुद्धि और योग्यता की माप करना, किसी विशेष प्रकार के मानसिक रोग की चिकित्सा करना, और कुशल सामाजिक या राजनीतिक बनना, यही साधारण मनोवैज्ञानिक अध्ययन का प्रयोजन रहता है; परन्तु मनोविज्ञान का उद्देश्य आत्म-विजय प्राप्त करके शाश्वत शान्ति प्राप्त करना भी हो सकता है। मनोविज्ञान का इस प्रकार सदुपयोग भारत-वर्ष के प्राचीन ऋषियों ने किया था। भगवान बुद्ध और महर्षि पातंजलि ने ऐसे मनोविज्ञान की रचना की थी जिनके ज्ञान से और जिनमें बतलाये साधारण अभ्यास से मनुष्य न केवल स्थाई मानसिक और शारीरिक रोगों से मुक्त हो सकता है वरन् भव रोग से भी मुक्त हो जाता है। मनोवैज्ञानिक संजीवनी का उद्देश्य इस प्रकार की खोजों को प्रकाश में लाना है। विदेश के कुछ विद्वान भी मनोविज्ञान का सर्वोत्तम उद्देश्य आत्म-निर्माण मानने लगे है। इनके विचारों को भी जनता के समक्ष रखना आवश्यक है।

भगवान बुद्ध और पातंजलि की योग साधनाओं को व्यवहार में लाने से अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश दूर हो जाते हैं और संसार के सामान्य पुरुष ऐसे रोगों से बचे रह सकते हैं जो अन्यथा उन्हें हो जाते हैं। काशी मनोविज्ञान-शाला में इन साधनाओं संबंधी अनेक प्रयोग किये गये हैं। ये प्रयोग डा० फ्रायड, चार्ल्सयुंग और डा० विलियमब्राउन की विचार प्रणाली से भी लाभ उठाकर सफल बनाये गये हैं; परन्तु इनका मूल-तत्व भारतीय दर्शनों से लिया हुआ है। आनापान-सति के अभ्यास के द्वारा मनुष्य स्वगत सम्मोहन की अवस्था में आ सकता है, वह जितनी देर चाहे उतनी देर के लिये अपने को मानसिक और शारीरिक पीड़ाओं से मुक्त कर सकता है तथा आनापानसति द्वारा प्राप्त योग मुद्रा में वह अपने मन में जिस विचार को दृढ़ता से बैठाना चाहता है बैठा सकता है। आनापानसति शुभ आत्म-निर्देश देने का सर्वोत्तम उपाय है। आनापानसति से सैकड़ों प्रकार के रोग रोगी का बिना मनोविश्लेषण किये अच्छे हो सकते हैं। इन बातों की सत्यता काशी मनोविज्ञान शाला की मानसिक चिकित्सा मे प्रमाणित हुई है। आनापानसति के द्वारा हमने भूत का भय, अकारण चिन्ता और भय, अनेक प्रकार की शारीरिक पीड़ाये, सिर और पेट की पीड़ा, हृदय की धड़कन आदि अच्छे किये हैं। भगवान बुद्ध का कहना है कि आनापान सति के द्वारा मनुष्य निर्वाण तक की प्राप्ति कर सकता है। अतएव अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों का इसके द्वारा अच्छा हो जाना एक

साधारण सी बात है। हमने जो प्रयोग इस अभ्यास मे अब तक किये हैं उन्हीं के निष्कर्षों को इस लेख संग्रह में किया है। डा० विलियमब्राउन ने आनापानसति के जैसे ही अभ्यास द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक रोगियो की चिकित्सा पिछली लड़ाई के समय की थी। वे इसका उपयोग अनेक प्रकार के मानसिक व्याधि-ग्रस्त रोगी के लिये करते हैं।

जिस प्रकार आनापानसति का अभ्यास रोगों के अपहरण मे बड़े ही महत्व का है उसी प्रकार शान्तभावना का अभ्यास भी मानसिक रोगों के हरण में बड़ा महत्व रखता है। यह अभ्यास भी भगवान बुद्ध स्वयं करते थे और अपने शिष्यों को विधिवत करने के लिये बताये। यह अभ्यास जब आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है तब मनुष्य को ऐसी अनेक प्रकार की चिन्तायें नहीं सताती जो उसे अन्यथा सताती रहती है और उसका जीवन भारस्वरूप बना देती हैं। शान्त भावना के अभ्यास का प्रभाव शारीरिक क्रियाओ पर इतने महत्व का पड़ता है कि मनुष्य इसके द्वारा अपने किसी अंग को शीतोष्ण के दुख से विमुक्त कर सकता है। शान्त भावना का अभ्यास करते-करते यदि मनुष्य को नींद आ जाय तो उसका जटिल शारीरिक रोग भी नष्ट हो जाता है। इन अभ्यासों का वर्णन प्रस्तुत लेखों में दिया गया है। आनापानसति और शान्तिभावना के अतिरिक्त मैत्री भावना का अभ्यास भी रोग के विनाश के लिए बड़ा ही लाभकारी है। मैत्री भावना दूसरों के प्रति अथवा अपने ही प्रति की जा सकती है। दूसरों के प्रति की गई मैत्री भावना आत्म-मैत्री का सर्वोत्तम उपाय है।

जिस प्रकार व्यक्तियों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास हमे लाभप्रद होता है इसी प्रकार घटनाओं के प्रति मैत्री भावना आवश्यक है। सभी घटनाओं के मंगलमय पहलू के देखने से हम उस घटना की मंगल-कारिता बढ़ा देते हैं। ऐसे व्यक्ति का अमंगल भी मंगल बन जाता है और उसकी असफलता भी सफलता की सीढ़ी बन जाती है। इमर्सन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, संत और कवि के लिए सभी वस्तुयें मंगल-मय और पवित्र है, सभी घटनायें लाभकारी हैं सभी दिन शुभ हैं और सभी पुरुष दैवी पुरुष हैं। इस प्रकार का अभ्यास मैत्री भावना का अभ्यास है। इस तरह के अभ्यास से मनुष्य अपनी परिस्थितियों पर सच्ची विजय प्राप्त करने में सफल होता है। परिस्थितियों को दुश्मन मान कर सफलता उतनी नहीं होती जितनी उन्हें मित्र मान कर होती है। इस अभ्यास को करके हमारे कई साधकों ने अपने दुखमय जीवन को सुखी बनाया है।

मैत्री भावना के अभ्यास का तीसरा पहलू आत्म-मैत्री स्थापित करना है। प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार की प्रवृतियाँ सदा द्वन्द्व अवस्था में रहती हैं एक

सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ हैं और दूसरी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ। सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ हमारे पुण्य कर्मों की प्रेरक होती है और प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ विकृत होकर पापाचरण में प्रवृत्त होती हैं। मनुष्य का पुरुपार्थ सांस्कृतिक प्रवृतियों से प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने में है। इस प्रकार की विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन काम है। शोपनहावर महाशय का कथन है कि संसार का महान पुरुप वह नहीं है जो सारे संसार की विजय कर लेता है वरन् वह है जो अपने आप पर विजय प्राप्त करता है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर विजय प्रात करना उन्हें अपना मित्र मानकर चलने से अत्यन्त सरल हो जाता है। ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य के अचेतन मन मे उपस्थित रहती हैं और जब हम उनको बुरा मान कर विजयी बनना चाहते हैं तो वे वास्तव मे बुरी बन जाती हैं और मनुष्य के विनाश का कारण बन जाती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि दमन की क्रिया मनुष्य के अनेक शारीरिक व मानसिक रोगों की जनक होती हैं। यह दमन मनुष्य के अचेतन मन मे होता है। जिन लोगों में नैतिक आदर्श अति उच्च होते हैं उनके मन में दमनात्मक कार्य सदा होते रहता है, इससे वे बाहरी जीवन में शान्ति दिखाई देते हैं परन्तु आन्तरिक जीवन कलह-युक्त होता है। जब तक मनुष्य प्राकृतिक व सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित नहीं कर लेता तब तक उसके व्यक्तित्व मे न शक्ति रहती है और न वह सच्चा आरोग्यवान बनता है। इस प्रकार का समन्वय पाशविक प्रवृत्तियों के प्रति मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। इस तरह का मैत्री भावना का अभ्यास करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि इसमें वासनाओं को मनमानी करने देने की छूट देना नहीं होता और दूसरी ओर उन्हें बुरा न मानकर भला मानते हुये उनकी शक्ति को सदुपयोग में लगाना होता है। प्रस्तुत लेखों में आत्ममैत्री स्थापन के व्यवहारिक उपाय प्रयोगों के आधार पर बताये गये हैं।

मनोविज्ञान और रूढ़िवादिता

सभी प्रकार का विज्ञान मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन की वृद्धि करता है और बौद्धिक परतंत्रता का विनाश करता है। विज्ञान अन्वेषण और प्रयोग पर आधारित है। जिस बात की सत्यता बार बार प्रयोग करके सिद्ध नहीं की जा सकती, जिसे आज हम अपने अनुभव में ठीक उतरते नहीं पाते, उसे विज्ञान नहीं मानता। शास्त्र की उतनी ही बातों को विज्ञान मानता है जितनी बातें अनुभव-सिद्ध होती हैं। आप्त-वचन को विज्ञान में स्थान नहीं। मनोविज्ञान विज्ञान है अतएव यह भी रूढ़िवादी चिन्तन का विरोधी है। मनोविज्ञान के ज्ञान के प्रसार से मनुष्य अंध-विश्वास और हजारों वर्ष पुरानी सामाजिक शृङ्खलाओं से मुक्त होने की चेष्टा करता है।

मनुष्य अपने वैज्ञानिक चिन्तन में भी छिपे भावों के कारण भूल करता है। साधारण चिन्तन में तो गुप्त मनो-भावों के कारण विचार कहाँ से कहाँ चला जाता है। जिस व्यक्ति, मत, वाद अथवा संस्था को हम हृदय से चाहते हैं। उसके दोषों की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। उसके गुण ही हमारे ध्यान को आकर्षित करते हैं। इसके प्रतिकूल हमारी बुद्धि उन व्यक्तियों, मतों, वादों और संस्थाओं के प्रति होती है, जिन्हें हमारा आन्तरिक मन नहीं चाहता। मनुष्य स्वयं ही अपने मनो-भावों को ठीक से नहीं जानता। जब वह स्वतंत्र चिन्तन करता है, तब भी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ उसकी बुद्धि को विशेष ओर मोड़ती हैं। अतएव उसे शुद्ध सत्य का ज्ञान नहीं होता। मनोविज्ञान मनुष्य को अन्त दर्शन की प्रेरणा देकर अपने भावों को जानने की योग्यता प्रदान करता है। इस तरह वह मनुष्य को सच्चा विचार स्वातंत्र्य देता है।

भारतवर्ष को मनोविज्ञान की उसके रूढ़िवादी विचार से मुक्त करने के लिए विशेष आवश्यकता है। मनोविज्ञान से ही हमारी राष्ट्रीय प्रगति होगी। संसार में रूढ़िवादिता सभी पाई जाती है। सभी जगह धार्मिक लोग आप्त-वचन को प्रमाण मानते हैं। वेद, कुरान और ऐंजिल की बातें आपस में कितनी ही विरोधी क्यों न हो, वे अपने-अपने धर्मवालों को मान्य रहती हैं। यूरोप और अमेरिका इस प्रकार की रूढ़िवादिता से बहुत कुछ स्वतंत्र हैं। अकलि वहाँ के प्रमुख विचारक वैज्ञानिक विचार को श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु भारत वर्ष में वैज्ञानिक विचार का अभी प्रारम्भ ही हुआ है। हमारी रूढ़िवदिता से लाभ विदेशियों ने उठाया और सैकड़ों वर्ष हम पर राज्य किया आज भी हम इससे मुक्त नहीं। अपनी रूढ़िवादिता और मान्यताओं से थोड़ी दूर तक ही मुक्त होने से आज हम स्वतंत्र हैं। यदि हम पूरी तरह अपने ही ढंग से सोचने लग जाँय, तब हम कितनी उन्नति कर डालेंगे, इसे कौन बता सकता है।

भगवान बुद्ध, कार्लमार्क्स और महात्मागांधी ने मानव समाज को रुढ़िवादिता से मुक्त होने में सहायता की। परन्तु प्रत्येक महान विचारक थोड़े समय के लिए विचारों में उथल-पुथल करता है। पीछे जन-साधारण पुरानी आदतों में ही पड़ जाता है। महान पुरुष से स्वतन्त्र चिंतन का पाठ न सीखकर वह उसी को ईश्वर का अवतार मान लेता है और उसके वाक्य को ही वेदवाक्य मानने लगता है। इसी प्रकार की मन्यता मानव समाज को दैन्य अवस्था में ले जाती है। मनोविज्ञान मनुष्य को चिंतन में स्वावलंबी बनाने की चेष्टा करता है। हमें किसी महापुरुष की बात को उतनी ही दूर तक ठीक मानना चाहिये, जहाँ तक वह अनुभव-सिद्ध है और उससे हमें कल्पित नहीं अपितु वास्तविक लाभ होता है।

मनोविज्ञान प्रयोगात्मक विज्ञान है। प्रयोग के आधार पर जो सत्य हम पाते हैं, वह शास्त्र से प्राप्त सत्य से ऊँचा होता है। ऐसा सत्य ही हमें सम्पूर्ण सुख और शान्ति दे सकता है। यही मनोविज्ञान की सबसे महत्व पूर्ण देन है।

दैविक चिकित्सा का रहस्य

दैविक चिकित्सा वह चिकित्सा है जिसका कारण कार्य सम्बन्धी विज्ञान की साधारण परिपाटी के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यही कारण सामान्य और कार्य असामान्य होता है। जब मनुष्य को कोई ऐसा रोग पकड़ लेता है जिसके उपचार में साधारण डाक्टरी उपचार विफल हो जाता है, वहाँ दैविक चिकित्सा की आवश्यकता होती है। मनुष्य के अधिकतर मानसिक रोग इसी प्रकार के होते हैं। उनकी जितनी ही डाक्टरी चिकित्सा होती है रोग उतने ही बढ़ते जाते हैं। इतना ही नहीं मानसिक उपचार विधियाँ भी जब वे बहुत वैज्ञानिक बन जाती हैं विफल होने लगती हैं।

डाक्टर इमीलकूमे के पूर्व यूरोप में मानसिक रोगों का उपचार झाड़-फूक के द्वारा होता था। भारतवर्ष में आज भी इसी प्रकार मानसिक रोगों का उपचार होता है। इस झाड़-फूक की विधि को कुछ वैज्ञानिक रूप मेसमर महाशय ने दिया। उनके कथनानुसार मनुष्य अर्थात् चिकित्सक की मानसिक शक्ति ही रोगी के रोग को हरण करती है। रोगी इस शक्ति के ग्रहण के लिये अपने आपको जितना ही अनुकूल बनाता है वह स्वास्थ्य लाभ उतनी ही शीघ्रता से करता है। रोगी का मन अनुकूल बनाने के लिये अनेक प्रकार की सामग्रियाँ जुटा ली गई थीं। आज भी हमारे देश में कुछ मानसिक चिकित्सक रोगियों को दवाई देकर उनमें मानसिक बिजली की करेन्ट उस दवाई की सीसी छूकर डाल देने की भावना रोगी के मन में डालते हैं और इस प्रकार उसे आरोग्यवान बनाने की चेष्टा करते हैं। यह एक प्रकार का जादू है और जादू से अनेक रोग आज भी अच्छे होते हैं। जिस व्यक्ति के जादू में रोगी का विश्वास हो जाता है उसका जादू सफल होता है। जादू का उद्देश्य मनुष्य के चेतन मन को नहीं वरन् अचेतन मन को प्रभावित करना है। यदि दोनों मन प्रभावित हो जायँ तो और भी अच्छा है। जब मनुष्य का चेतन-मन प्रभावित नहीं होता तो जादू से कोई लाभ नहीं होता। इनके प्रतिकूल यदि चेतन-मन प्रभावित नहीं है अथवा विरोध करता है परन्तु अचेतन मन प्रभावित हो गया है तो जादू अवश्य ही काम करता है। इस तरह अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी मनुष्य जादू से प्रभावित हो जाता है। अर्थात् मानसिक सम्मोहन का कार्य मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध भी होता है।

जटिल रोगों की अवस्था में मनुष्य के विचार निराशावादी और अस्वस्थ हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति सदा अपने विषय में रोग की कल्पना ही करते रहते हैं। फिर जैसी उसकी कल्पना होती है वह वैसा अपने आप बनते जाते हैं। यदि किसी प्रकार रोगी के कल्पना में परिवर्तन कर दिया जाय तो उनके रोग

की समाप्ति हो जाय। रोगी की कल्पना का नियंत्रण उसके अचेतन मन से होता है। अचेतन मन मे ही इन कल्पनाओं का स्रोत रहता है। जिस प्रकार भी मन को प्रभावित किया जा सकता है वही उपाय कल्पनाओं के सुधारने का होता है। कभी कभी यह अचेतन-मन जादू से प्रभावित किया जा सकता है; अतएव यह कल्पनाओं में परिवर्तन करने का साधन बन जाता है। मानसिक रोग कल्पना की विकृति का रोग है। अतएव यहाँ जादू प्रभावकारी हो, इसमें कुछ आश्चर्य नही।

जादू वह क्रिया है जिसका अर्थ चेतन-मन के समक्ष कुछ नहीं है परन्तु जिसका अचेतनमन के लिये भारी अर्थ है। जादू में जो जो बातें की जाती हैं वे अचेतनमन में भय, श्रद्धा, स्नेह आश्चर्य आदि के भाव उत्पन्न करती हैं। इन भावों के कारण मनुष्य के विचार विशेष ओर मुड़ जाते हैं। जब एक बार ये विचार किसी ओर मुड़ जायँ तो मनुष्य के स्वास्थ्य अथवा व्यक्तित्व में चमत्कारिक परिवर्तन हो जाता है। पानी, झाड़ू, फूक आदि अचेतनमन के लिये सफाई के प्रतीक होते हैं। अतएव इनका उपयोग जादू में किया जाता है। विशेष प्रकार की संख्यायें अचेतनमन के लिये विशेष अर्थ रखती हैं अतएव उनका उपयोग भी होता है। अचेतनमन के लिये साधारण चेतना की बातें महत्व नहीं रखती। उसके लिये वे बाते महत्व रखती है जो हजारों वर्ष से चली आई हैं।

जीवनग्रन्थि तथा कर्म

(ले० पं० श्री लालजी राम शुक्ल, एस० ए०, बी० टी०)

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते ॥ (ईशावास्योपनिषद्)

हमारा जीवन एक ग्रंथि है; जो इसको सुलझा लेता है वह शांतिलाभ करता है, और जो नहीं सुलझा सकता वह सभी मन-रोग से पीड़ित रहता है। जो इस संसार में आता है वह एक ऐसी उलझन मे पड़ जाता है कि जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है वह संस्कार-रूपी बन्धनों से जकड़ता हुआ चला जाता है। हमारे सस्कार की प्रसुप्त वासनाएँ ही हमें सदा कर्म में प्रवृत्त करती हैं और फिर ये कर्म नये संस्कार पैदा कर देते हैं। यही संसार का कारण कार्यचक्र है। इसका ही उल्लेख बौद्धग्रंथों में प्रतीत्य समुत्पाद-वाद में किया है। इससे मुक्त होने की चेष्टा ही अध्यात्मता है।

जीवनग्रंथि सुलझाने में कर्म और ज्ञान का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे ज्ञान से वासनाओं का विचार करके क्षय होता है वैसे ही इसमे वासनाओं का भोग करके क्षय होता है। हमारे दर्शन-शास्त्रों ने मुक्ति या शांतिलाभ में प्रायः ज्ञान को ही प्रधानता दी है। आचार्यशङ्कर से लेकर आज दिन तक जो वेदान्तिक सिद्धांतो का प्रचार इस देश में हुआ उसमे नैष्कर्म्य की ही प्रधानता है। भगवान् शङ्कर ने गीता मे भी नैष्कर्म्य की ही सिद्धि की है। स्वामी विद्यारण्य तथा दूसरे आचार्यों ने इस नैष्कर्म्य का प्रतिपादन पूरी तरह से अपने ग्रथों में किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि समस्त भारतवर्ष कर्म-उपासना को छोड़ ज्ञानवादी बन गया। शायद यही कारण है कि हम आज कर्म उपासकों के दास हैं। इस लेख का उद्देश्य यह बताना है कि छोटे ज्ञान से न तो वैयक्तिक शांतिलाभ हो सकता है और न सामाजिक जीवन सुखी हो सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति का वैयक्तिय जीवन उसकी वासनाओं से बना है। हम अपनी वासनाओं के वशीभूत होकर ससार के अनेक कर्मों मे प्रवृत्त होते हैं तथा सुख और दुःख का उपयोग करते हैं। संसार की परिस्थितियाँ भी हमारी प्रसुप्त और जाग्रत वासनाओं के सापेक्ष हैं। वेदात शास्त्र का यह परम सिद्धात है कि यह संसार हमारी कल्पना का रचा हुआ है। हमारी आंतरिक इच्छाएँ ही ससारी पदार्थों मे स्फुरित हो जाती हैं। योगवशिष्ठ मे ससार की स्वप्न से तुलना की है। जैसे स्वप्नपदार्थ हमारी दबी वासनाओं के सापेक्ष हैं वैसे ही ससार के पदार्थ भी हमारी जाग्रत वासनाओं के सापेक्ष हैं। प्रोफेसर जेम्स तथा ड्यूई का

प्रेगमेटिज्म एक तरह से इस सिद्धांत को पुष्ट करता है। प्रेगमेटिज्म के अनुसार संसार का अनुभव हमारी मानसिक प्रवृत्तियों पर ही निर्भर है। हमारी भोगेच्छा ही हमारे संसार का निर्माण करती है। तथा वास्तविकता और अवास्तविकता की कसौटी भी नहीं है।

आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्र ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा स्वप्न हमारी वासनाओं का स्फुरणमात्र है। हमारी दबी हुई वासनाएँ हमारे जाग्रत जीवन में जब परितृप्ति नहीं पातीं तब स्वप्न संसार को रचती हैं। पर यह एक ऐसी रचना होती है जो हमारे जाग्रत मन की समझ में नहीं आती। वास्तव में जाग्रत मन की नैतिकता के शास्त्र से बचने के लिए ही हमारी वासनाएँ अनेक प्रकार के विचित्र रूप धारण करती हैं। डाक्टर फ्राइड ने स्वप्न संसार की रचना का भली-भांति अध्ययन किया है। हमारे व्यंग-मन के सेंसर ऑफ़िस से बचने के लिए नैतिकता से दबी हुई वासनाएँ स्वप्न में प्रकट होते समय वेष बदल लेती हैं और हमको कुछ-का-कुछ दिखायी देता है। हमारा स्पष्ट स्वप्न (Manifest Dream) वास्तविक स्वप्नभावना (Lateul Dream) से बिल्कुल भिन्न होता है। और बड़े प्रयास से ही हम स्पष्ट स्वप्न से वास्तविक स्वप्न-भावना का पता चला सकते हैं। स्वप्न मे कई एक ऐसी परिस्थियाँ उपस्थित होती हैं जिनसे भोक्ता को सुख होता है और कई एक ऐसी होती हैं कि उनसे भोक्ता को दुःख होता है। कभी-कभी भोक्ता अपनी मृत्यु का अनुभव स्वप्न में करता है।

अब शायद यह प्रश्न उठे कि अपनी मृत्यु की इच्छा भला कौन कर सकता है। अपनी मृत्यु का स्वप्न में अनुभव करना तो बिल्कुल अनहोनी घटना है। पर चित्तविश्लेषण शास्त्र (Psychology) बताता है कि मृत्यु की इच्छा भी हमारा अव्यक्त मन कभी-कभी किया करता है। वास्तव में मृत्यु-इच्छा हमारे अव्यक्त मन की एक बड़ी उत्कृष्ट इच्छा है। ऐसे ही बीमारियों से पीड़ित होने की, दूसरों द्वारा त्रस्त होने की तथा अंगभंग का दुःख सहने की इच्छाएँ वैसी ही प्रबल हैं जैसी कि इन्द्रियों की तृप्ति, दूसरों पर अधिकार जमाना या स्वस्थ रहने की इच्छाएँ हैं। जब तक हमारी अति संवेगवाली इच्छाओं की तृप्ति स्वप्नद्वारा नहीं होती,तब तक हम सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। डाक्टर फ्राइड का कहना है कि स्वप्न हमारी निद्रा को भंग नहीं करता है वरं उसकी रक्षा करता है। जबतक हमारी प्रबल वासनाएँ, स्वप्न में अपनी आंशिक तृप्ति नहीं पा लेतीं तब तक द्रष्टा निद्रा का आनन्द अनुभव नहीं कर सकता। वास्तव में द्रष्टा की निद्रा की विश्राम-प्रवृत्ति ही स्वप्न का कारण है।

अब यदि हम इस स्वप्नस्फुरण सिद्धान्त को जाग्रत जीव के अनुभव के समझने में काम में लावें तो निश्चित होता है कि हमारा जाग्रत जीवन भी स्वप्न सदृश हमारी प्रसुप्त वासनाओं द्वारा निर्मित है। जैसे द्रष्टा की प्रवृत्ति सुषुप्ति के आनन्द लाभ की भी रहती और जैसे पहले प्रकार की प्रवृत्ति स्वप्न-अनुभव का कारण है वैसे ही दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति संसार अनुभव का कारण है। जैसे स्वप्न के सुख, दुःख तथा मृत्यु हमारी वासनाओं पर ही निर्भर हैं इसी तरह से जाग्रत संसार के सुख, दुःख और मृत्यु भी हमारी अव्यक्त वासनाओं पर निर्भर हैं और जैसे कि स्वप्न वास्तविक स्वप्न-भावना से भिन्न रहता है वैसे ही हमारे जाग्रत् जीवन का स्पष्ट अनुभव आन्तरिक वासनाओं से भिन्न है। जैसे डाक्टर फ्राइड ने अपनी नयी युक्ति से स्वप्न-अनुभव का विश्लेषण किया है वैसे ही हमारे महर्षियों ने अध्यात्म-शास्त्र से जाग्रत जीवन के अनुभव का विश्लेषण कर जाग्रत जीवन के सिद्धान्त बनाये हैं। दोनों की समानता बहुत ही भारी है और इसलिए जीवन-ग्रन्थि सुलझाने के लिये आधुनिक चित्तविश्लेषण-शास्त्र का अध्ययन अति आवश्यक है। हमारी आत्मा सदा शान्ति में रहना चाहती है। यही उसकी शान्ति की लालसा अशान्ति का कारण है। जैसे कि यदि समुद्र में एक तरंग उठ जाय तो वह दूसरी तरंग को उठाने में कारण बनती है वैसे ही एक वासना दूसरी वासना के उठाने में कारण होती है। पर जैसे कि समुद्र की शान्ति रहने की प्रवृत्ति अनेक पर्वताकार तरंगों की कारण है वैसे ही आत्मा की शान्त रहने की प्रवृत्ति संसार तरंग का कारण है। भौतिकशास्त्र का सिद्धान्त है कि हर एक संसार की क्रिया अपने बराबरी की प्रतिक्रिया पैदा करती है। यही कारण है कि एक तरंग यदि समुद्र में उठे तो फिर वह अनेक तरंग उठा देती है। वैसे ही मन में एक वासना अनेक वासनाओं का कारण बनती है। अब प्रश्न यह है कि शान्ति लाभ कैसे हो। जबतक वासनाओं का वेग प्रबल होता है तबतक चित्त स्थिर नहीं रह सकता और चित्त की स्थिरता बिना सत्या-सत्य के होना असम्भव है। तब क्या वासनाओं को दबाना ही मन-रोग मिटाने का उपाय है? नहीं। वासनाओं का दबाया जाना सम्भव नहीं। दबी हुई वासना अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक व्याधि पैदा करती है। यह बात आधुनिक चित्तविश्लेषण-शास्त्र ने स्थिर की है। जिस व्यक्ति की संवेगपूर्ण वासनाएँ दबा दी जाती हैं वह विक्षिप्त हो जाता है। उसको उचित-अनुचित का विचार भी नहीं रहता। तब उसका सत्यान्वेषण करना या आत्मज्ञान-लाभ करना कैसे सम्भव है। वासनाओं का प्रतिबन्ध हमें ज्ञानोपार्जन में बाधक होता है। बिना वासनाओं का प्रतिबन्ध हटे आत्मज्ञान प्रकाश होना कठिन है। यदि प्रगाढ़ वासनाओंवाला व्यक्ति तत्वज्ञान भी कहे तो वह तत्वज्ञान उसके भोग की सामग्री हो जाती है।

क्या हम नहीं देखते कि जो व्यक्ति वेदान्त सिद्धान्तों को संसार को भलीभांति समझा सकता है उसी का हृदय ससार की छोटी-छोटी घटनाओं से क्षुब्ध हो जाता है। शोपनहावर ने दो प्रकार के तत्व-चर्चा करनेवाले बताये हैं एक तो पोथी पण्डित, दूसरे सत्यान्वेषी। जब हमारी भोग वासनाएँ दबा दी जाती हैं तो वे फिर तत्वज्ञान को भी अपनी तृप्ति का साधन बनाने की चेष्टा करती हैं। इस हालत मे हम सिर्फ अपने आपको धोखा देने में ही समर्थ होते हैं, और घोर अन्धकार मे पड़ते। तत्वज्ञान-मन्दिरों में रहने पर मेरा अनुभव है कि इन मन्दिरों के पुजारी भी वैसे ही ईर्ष्या-द्वेष तथा अनेक मानसिक क्लेशो से पीड़ित रहते हैं जैसे कि संसार का दूसरा कोई व्यक्ति इतना ही नहीं, बल्कि उनका पाण्डित्य, उनका रोग और भी अधिक कर देता है।

भारतवर्ष ने कर्म की उपासना छोड़कर जब ज्ञान का अनुशीलन किया तो जड़ता की प्रबल धारा चल पड़ी। ज्ञानचर्चा-अधिकारी कोई विरला ही होता है। वैराग्य के बिना ज्ञानचर्चा बन्धन का कारण बन जाती है। मनुष्य अपने आपको महात्मा समझने लग जाता है। यह अभिमानी-दम्भी होकर अपने-आपको हनन करता है। इसका चित्त कभी शान्त नही रह सकता। यही कारण है कि भगवान् ने अर्जुन को गीता मे संसार चक्र से बाहर निकलने के लिए कर्म का देश दिया था और हमारे ऋषियों के उपनिषदो मे कर्म की निन्दा कर स्तुति की है।

कर्म से कर्म बन्धन कठिन भी होता है और शिथिल भी होता है। जैसे स्वास्थ्य-उपार्जन मे हम एक विष के हटाने के लिए दूसरे विष का प्रयोग करते हैं वैसे ही आत्म-शान्ति-लाभ करने मे कर्म सस्कार नाश करने के लिए कर्म करना आवश्यक है। भोग बन्धन का कारण भी है और मुक्ति का भी कारण है। जो भोग जिस उद्देश से होता है उसका काम भी वही होता है। तन्त्रशास्त्र में इसलिए भोग ही भोग प्राप्ति का उपाय बताया है। तथा भोगवासिष्ठ मे कर्म और ज्ञान जीवरूपी पक्षी के दो पख माने हैं। जैसे एक पंख से पक्षी नहीं उड़ सकता। ऐसे ही न तो अकेले ज्ञान से और न कर्म से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। हम संसार मे रहकर ही अपनी दबी हुई वासनाओ को जान सकते हैं। जो संसार की निर्भ्रांतियों से अलग रहकर आत्म-लाभ करना चाहता है वह अपने-आपकी कमजोरीयाँ जानने से वञ्चित रहता है। यदि कोई व्यक्ति अकेले जंगल मे पर्णकुटी मे रहकर यह करे कि उसने काम क्रोध, लोभ इत्यादि को जीत लिया है तो यह उसकी धृष्टता-मात्र है। हमारी विषय-निर्लिप्ति की परीक्षा तो उनके सामने रहने पर ही हो सकती है। ऐसा अभिमान नारद मुनि, शृङ्गी ऋषि तथा पराशर ऋषि को हुआ था और भगवान् ने उनको परिस्थितियो मे लाकर दिखा दिया कि उनका अभिमान कितना झूठा है।

इच्छा-शक्ति का बल

मानव-जीवन को सफल बनाने के लिये इच्छा-शक्ति के बल की नितांत आवश्यकता रहती है। जिस मनुष्य में इच्छा-शक्ति का बल नहीं रहता, वह सदा डरा करता है। उसे सदा संशय त्रास देते रहते हैं। वह सदा भविष्य की बात को जानना चाहता है, और अपनी जन्म-कुण्डली, हाथ आदि दूसरों को दिखाता फिरता है। ये हाथ देखनेवाले लोग कुछ बातें उसके मन को सुहानेवाली कह देते हैं। परन्तु इन्हीं के द्वारा उसके मन में अनेक प्रकार के भय का निर्माण भी हो जाता है। जो मनुष्य भविष्य के विषय में जितनी अधिक चिन्ता करता है, वह उसे उतना ही बीभत्स बना लेता है। लड़ाई के समय जीत-हार के विषय में अधिक सोचनेवाले लोग ही प्रायः हार जाते हैं। जो लोग जिस बात से डरते हैं, उन्हें वही बात सताती है। जो आपत्ति से भागते हैं, उनके सिरपर आपत्ति पड़ती है।

सभी प्रकार के मानसिक रोगों का मूल कारण इच्छा-शक्ति की दुर्बलता है। दुर्बल इच्छा-शक्ति का व्यक्ति अपनी कमजोरियों को पहचानने की चेष्टा नहीं करता। वह बहुत सी बातें समाज से छिपाकर करता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति और भी दुर्बल हो जाती है। जो बातें मनुष्य समाज से छिपाता है, उन्हें वह अपने आप से भी छिपाता है। फिर यह भय की मनोवृत्ति दबकर और भी प्रबल हो जाती है। वह रूप बदलकर अनेक रूप मे चेतना के सतह पर आती है। कीड़े मकोड़ों का भय, साँप का भय, किसी दुर्घटना का भय, अकेले रहने का भय, समाज मे जाने का भय किसी ऐसे भय के प्रतीक हैं, जिसे मनुष्य का अभिमान स्वीकार नहीं करना चाहता। सच्चे भय के विषय को स्वीकार कर लेने से मनुष्य के अभिमान को ठेस लगती है। अतएव इन भयों को प्रतीक-रूप से उसे स्वीकार करना पड़ता है। छिपकर किसी भी काम को करना, किसी-न-किसी प्रकार के निरर्थक भय का जनक होता है।

जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल होती है, तब मनुष्य का सामान्य व्यक्तित्व किसी दबी उत्तेजना पर काबू रखने में समर्थ नहीं रहता। जिस प्रकार किसी राष्ट्र की निर्बल सरकार गुप्त-विरोधी गुटों को दबाने में समर्थ नहीं रहती, उसी प्रकार इच्छा-शक्ति के निर्बल हो जाने पर शत्रु-रूप में उपस्थित मानसिक भावनायें नियंत्रण में नहीं रहतीं। वे मनुष्य के विवेक के प्रतिकूल ही उसके आचरण में प्रकाशित हो जाती हैं। यदि चेतन व्यक्तित्व प्रबल हुआ, तो वे छिपे रूप में हठी विचार, झक, अकारण चिन्ता और भय के रूप में प्रकाश में आती हैं, और यदि चेतन व्यक्तित्व निर्बल हुआ, तो वे मूर्च्छा, चलित स्वप्न, द्वि-व्यक्तित्व और अनेक प्रकार के भ्रमों का रूप ले लेती हैं। सभी प्रकार के मानसिक रोगों में इच्छा-शक्ति की दुर्बलता रहती है। जब मनुष्य की बाहरी समस्याओं की चिन्ता

बढ़ जाती है, तब भीतरी विरोधी शक्तियाँ भी मनुष्य को तंग करने की चेष्टा करती हैं। यही कारण है कि परीक्षा के समय ही विद्यार्थियों को अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। जो व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति को पहले से बलवान बनाये रहते हैं, वे बाहरी संकट आने पर उनसे नहीं डरते, और न उन्हें किसी प्रकार का मानसिक रोग ही होता है।

इच्छा-शक्ति को बली बनाने के लिये मनुष्य को ऐसे काम न करना चाहिये, जिन्हें वह दूसरों के समक्ष प्रगट नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य अपने काम को तभी ठीक समझता है, जब कि वह सोचता है कि समाज के सर्वोत्तम पुरुष उसे ठीक समझते हैं। इस प्रकार की नैतिक बुद्धि अथवा विवेक-बुद्धि प्रत्येक व्यक्ति में है। इस बुद्धि का समर्थन मिलने पर ही मनुष्य को आत्म-प्रसाद मिलता है। यही आत्म-प्रसाद मनुष्य की इच्छा-शक्ति के बल को बढ़ाता है। सार्वभौम नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल आचरण करने पर मनुष्य को उसकी अन्तरात्मा धिक्कारती है। इसके कारण वह अपने काम को ही भूल जाना चाहता है। परन्तु इस धिक्कार और भूलने के प्रयत्न से मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती। इस दुर्बलता के कारण व्यक्ति अनेक प्रकार की वास्तविक और अवास्तविक चिन्ताओं से त्रस्त रहने लगता है। उसका मन सदा संताप युक्त रहता है। उसका आन्तरिक मन किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग का आवाहन करने लगता है। किसी प्रकार के रोग से डरना, आन्तरिक मन से उसका आवाहन करना है। यह इच्छा-शक्ति की दुर्बलता का परिणाम है। जिस रोग का आन्तरिक मन से आवाहन किया जाता है, वह व्यक्ति को हो भी जाता है।

इच्छा-शक्ति का बल जब अनैतिक आचरण से घट जाता है, तो उसे प्रकाश में लाने पर फिर बढ़ जाता है। नैतिकता-विरोधी बातों की आत्म-स्वीकृति करने से एक ओर मनुष्य का अभिमान घट जाता है, परन्तु दूसरी ओर वह अपनी अनैतिक प्रवृत्तियों को नियंत्रण में लाने में भी समर्थ होता है। अपने आप पर नियंत्रण रखने में हम तभी असमर्थ रहते हैं, जब हम चेतन मन से अर्थात् बाहर से कुछ और होते हैं, और भीतर से कुछ और। नैतिक आचरण में बहुत ही बढ़े-चढ़े लोगों की इच्छा-शक्ति कभी-कभी दुर्बल होती है। इसका कारण उनकी नैतिकता नहीं, वरन् उनमें आत्म-स्वीकृति की भावना का अभाव है। उनकी नैतिकता वास्तव मे अपने आपको भुलाने का उपाय मात्र होती है। ऐसे व्यक्ति अपने नैतिक कार्यों का प्रदर्शन करते रहते हैं, ताकि समाज से उन्हें अपनी प्रशंसा सुनने को मिले। इस प्रकार की प्रशंसा सुनने की इच्छा अपने भीतर आत्म-विश्वास के अभाव का सूचक है।

प्रत्येक भले काम के करने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने भले काम को प्रकाश में लाना चाहता है। भले काम को प्रकाश में लाने से उसे धन, कीर्ति अथवा किसी पद की प्राप्ति होती है; उसे समाज की प्रशंसा सुनने को मिलती है। अपने भले काम के लिये जिस व्यक्ति को ये लौकिक लाभ हो जाते हैं, उसे आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। प्रत्येक भले काम का भला फल, और प्रत्येक बुरे काम का बुरा फल जब बाहरी लाभ-हानि के रूप में मनुष्य को नहीं मिलता, तो वह फल भीतरी लाभ-हानि के रूप में होता है। समाज-द्वारा अपुरस्कृत भला काम मनुष्य की इच्छा-शक्ति के बल को बढ़ाता है; और उसके द्वारा अदण्डित बुरा काम मनुष्य की इच्छा-शक्ति के बल को घटाता है। हम जितने ही भले काम दूसरों की दृष्टि से बचा सकते हैं, और बिना पुरष्कार की नियत से करते हैं, उतने सभी काम हमारे संचित द्रव्य बन जाते। यही मनुष्य में वह आत्म-विश्वास उत्पन्न करते हैं, जिनके कारण वह एक ओर बाहरी परिस्थितियों से निर्भीक होकर लड़ता है, और दूसरी ओर अपनी त्रासजनक प्रवृत्तियों को नियंत्रित रखने में समर्थ होता है। छिपकर भले काम करनेवाले व्यक्ति को मानसिक रोग नहीं होते।

कहा जाता है कि हमारे सभी भले और बुरे कामों को परमात्मा देखता है। पौराणिक विचार के अनुसार हमारे बाहों पर बैठे चित्रगुप्त हमारे सभी भले और बुरे कामों को लिख लेते हैं। हमारी विचार भी उनकी नजर से छिपे नहीं रहते। वे इनका भी मूल्यांकन करते हैं, और मनुष्य को इनके लेखा के अनुसार जीवन में पुरष्कार अथवा दण्ड मिलता है। भगवान बुद्ध ने भी इस विचार की पुष्टि की है। उनके कथनानुसार जिस प्रकार बैल की खुरों के चिह्न के पीछे रथ के पहिया का आना अनिवार्य है, उसी प्रकार भले कामों के बाद भला परिणाम और बुरे कामों के पश्चात् बुरा परिणाम होना अनिवार्य है। आधुनिक मनोविज्ञान पौराणिक चित्रगुप्त की बात को पुष्ट करता है। चित्रगुप्त मानसिक गुप्त-चित्र है। प्रत्येक कार्य और विचार के गुप्त चित्र मनुष्य के मन में रह जाते हैं। ये ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति को बली अथवा निर्बल बनाते हैं। मनुष्य की संचित इच्छा-शक्ति का बल ही उसे अपने जीवन के व्यवसायों के सफल बनाता है।

कोई भी मनुष्य अपने किसी काम के भावी परिणाम के विषय में पूर्णतः निश्चित नहीं रहता। वह सभी कामों मे एक प्रकार का जुआ जैसा खेलता है। जिस व्यक्ति की कल्पना रचनात्मक होती है, वह अपने काम की सफलता की सजीव कल्पना करता है और फिर यही कल्पना उसे अपने काम को लगन के साथ करने में सहायक होती है। कल्पना ही वास्तविकता मे परिणत हो जाती है। कल्पना

की सजीवता इच्छा-शक्ति के बलपर निर्भर है। जिन लोगों की इच्छा-शक्ति निर्बल होती है, उन्हें अपने कार्य मे सफल होने में विश्वास ही नहीं होता। उनके मन में क्षण-क्षण पर नये सन्देह आते रहते हैं, और ये सन्देह उनके कल्पना को रचनात्मक बनने में बाधक होते हैं। इनके कारण मनुष्य की कल्पना रचनात्मक न होकर, ध्वंसात्मक ही होती है। अपने आपपर विश्वास न करनेवाले लोगों की कल्पना रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक ही होती है।

संचित इच्छा-शक्ति का बल आत्म-विश्वास उत्पन्न करता है। ऐसा व्यक्ति अपनी बुद्धि की सीमा के परे एक सत्ता की उपस्थिति में भी विश्वास करता है। वास्तव में यह सत्ता उसकी इच्छा-शक्ति का बल ही है। कहा जाता है कि मनुष्य को अपने तप के अनुसार ही जीवन में सफलता और भोग मिलते हैं। तप इच्छा-शक्ति को बली बनाता है, और इस बल से ही मनुष्य सफल होता है। किसी भी मनुष्य को उतना ही संसार से मिलता है, जितना उसने उसे दिया है। जो लाभ हमे अनायास हो जाता है, वह हमारा विनाशक होता है, उससे इच्छा-शक्ति की दुर्बलता आती है; जो सभी आपत्तियों की जड़ है। अनायास मिले धन के साथ-साथ भूत-बाधा भी आ जाती है। वास्तव में भूत-बाधा इच्छा-शक्ति की दुर्बलता का परिणाम है। धनोपार्जन करने में मनुष्य को जो कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं, उससे उसकी इच्छा-शक्ति बलवती होती है। इसके कारण धन के मिलने पर उसके व्यक्तित्व का विच्छेद नहीं हो पाता। जब मनुष्य को धनोपार्जन में परिश्रम नहीं करना पड़ता, तो उसकी इच्छा-शक्ति का बल भी नहीं बढ़ता। इसके कारण उसके मन के त्रास देनेवाले भाव उसके नियंत्रण में नहीं रहते। आत्म-नियंत्रण के अभाव में उसका धन ही उसके लिए विष बन जाता है। धन के साथ उसे प्रेत-बाधाये पीड़ा देने लगती हैं।

किसी भी प्रकार के रचनात्मक कार्य करने से इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है। रचनात्मक कार्य वह है, जिससे किसी भी व्यक्ति की भलाई हो; जिस काम को देखकर दूसरे लोग प्रसन्न हों, अथवा जिससे अपनी ही शारीरिक अथवा मानसिक शक्ति की वृद्धि हो। बैठे से बेगार भली—इस कथानक में बड़ा ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व भरा है। जब मनुष्य कोई रचनात्मक कार्य करता है, तो उसे अपने को एकाग्र करना पड़ता है, उसे अपनी शारीरिक और मानसिक उत्तेजनाओं को टाल देना पड़ता है। फिर अभ्यास के कारण ये सभी विघ्नकारी बातें मनुष्य के वश में आ जाती हैं। जीवन को एक निश्चित लक्ष्य की ओर चलाते रहने से मनुष्य में मानसिक एकीकरण आता है। यही मानसिक एकीकरण उसकी इच्छा-शक्ति का बल है।

जिन बालकों को बचपन में लाड़ से रखा जाता है, जिन्हें जीवन में सभी प्रकार की सुविधायें मिलती जाती हैं, उन्हें मानसिक व्याधियाँ सरलता से हो जाती हैं। इच्छा-शक्ति के बल को बढ़ाने के लिए कठिनाई का जीवन व्यतीत करना नितांत आवश्यक है। जो व्यक्ति कठिनाइयों का जितना ही अधिक सामना करता है, वह उतना ही इच्छा-शक्ति का बली होता है। ऐसा ही व्यक्ति दूसरे लोगों के लिए आदर्श बन जाता है। वे लोग अभागे हैं, जिन्हें विलासिता के वातावरण में रहना पड़ता है, जो बचपन से ही विलासिता में पाले जाते हैं, जिनकी सभी माँगें पूरी हो जाती हैं और जिन्हें किसी प्रकार के दुःख और असफलता का सामना नहीं करना पड़ता। धनी लोगों के लिए आवश्यक है, कि वे अपने बच्चों के कल्याण के लिये उन्हें कठिन परिस्थिति में रखें। इसके लिए उन्हें भी उसी प्रकार की परिस्थिति में रहना आवश्यक है। कीर्तिवान पुरुष के बालक कीर्तिवान इसीलिए नहीं होते, कि इन बालकों को बचपन से ही विलासिता की आदत पड़ जाती है। उन्हें वातावरण से उस प्रकार से संघर्ष नहीं करना पड़ता, जिस प्रकार उनके पिताओं को करना पड़ता था। अतएव उनकी इच्छा-शक्ति निर्बल ही बनी रहती है। वे दुनिया को कुछ देना नहीं सीखते, वे उससे लेना ही सीखते हैं।

इच्छा-शक्ति का बल सभी प्रकार के तप करने से बढ़ता है। महात्मा टाल्सटाय ने मन पर विजय प्राप्त करने के उपायों में बताया है, कि मनुष्य इस बात में स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रगति करता है। जो व्यक्ति मन के सूक्ष्म विचारों पर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे अपनी स्थूल इच्छाओं पर पहले विजय प्राप्त करना चाहिये। बकवाद करना, कामुक चिन्ता करना और रसना की तृप्ति में लगाना स्थूल मानसिक दुर्गुण हैं। इनसे बचकर ही मनुष्य दूसरे सद्गुण प्राप्त कर सकता है। आत्म-नियंत्रण की प्रथम सीढ़ी उपवास है। अधिक खाने से अथवा सभी खाद्य-पदार्थों पर मन को दौड़ाने से मनुष्य आलसी हो जाता है। आलसी मनुष्य काम-वासना पर नियंत्रण नहीं रख पाता। वह फिर अपनी वाणी पर भी नियंत्रण नहीं रख पाता। मनुष्य की जितनी शक्ति काम-विषयक चिन्तन और बकवाद में खर्च होती है, उतनी किसी अन्य बात में खर्च नहीं होती। जो मनुष्य महान बनना चाहता है, उसके लिए काम-चिन्तन और बकवाद से बचना नितांत आवश्यक है। इनसे शक्ति का जो ह्रास होता है, उससे इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। इन पर नियंत्रण के लिए प्रथम सीढ़ी, नियमित रूप से उपवास करना है। अतएव उपवास करना इच्छा-शक्ति को बली बनाने का सबसे प्रत्यक्ष उपाय है। जो व्यक्ति नियमित रूप से उपवास करते रहता है, वह मानसिक रोगी कदापि न होगा। उपवास की महत्ता सभी धर्मों में मानी गई है। धर्म मनुष्य की इच्छा-शक्ति को

बली बनाने के उपाय हैं। तप और सेवा से इच्छा-शक्ति बली होती है। अतएव प्रत्येक धर्म में इनकी प्रधानता रहती है।

इच्छा-शक्ति का बल व्यर्थ की चिन्ता से नष्ट होता है। व्यर्थ की चिन्ता का विनाश मैत्री-भावना और शिव-भावना के अभ्यास से होता है। जब किसी व्यक्ति के मन मे किसी के प्रति शत्रु-भावना रहती है, तो वह उसके विनाश के उपाय सोचने लगता है। फिर वह ऐसे व्यक्ति से भय करने लगता है। ये भय के विचार उसकी इच्छा-शक्ति को दुर्बल बना देते हैं। सबके प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने से अकारण की चिन्ता और भय नष्ट हो जाते हैं। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न भागों मे एकता स्थापित हो जाती है। जिस शत्रु को हम बाहर देखते हैं, वास्तव में वह हमारे भीतर ही रहता है। हमारे मन में छिपा शत्रु हमें बाहरी व्यक्ति पर आरोपित होकर दिखाई देता है। अतएव जब हम दूसरे व्यक्ति के प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करते हैं, तो वह अपने प्रति ही मैत्रीभाव में परिणत हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य के मन के विभिन्न भागों मे एकता स्थापित हो जाती है। इसी एकता में इच्छा-शक्ति का बल है।

शिव-भावना का अभ्यास, अर्थात् जो कुछ होता है सब भले के लिये ही होता है, भी मैत्री भावना का अभ्यास है। यह सभी परिस्थितियों के प्रति मैत्री-भावना का अनुभव करना है। सभी प्रकार के लौकिक लाभ में हानि निहित रहती है, और सभी प्रकार की लौकिक हानि में लाभ रहता है। इस सिद्धान्त पर बारबार विचार करने से मनुष्य बाह्य परिस्थितियों के विषय में निश्चित हो जाता है। "जो होगा सब भले के लिए होगा" इस प्रकार का भाव मनुष्य की मानसिक-शक्ति को व्यर्थ चिन्ता से बचा लेता है। फिर यही शक्ति मौलिक भलाई में परिणत हो जाती है। भय और चिन्तायें अनुकूल परिस्थितियों को प्रतिकूल बना देते हैं और इनका अभाव प्रतिकूल को अनुकूल मे परिणत कर देता है।

इच्छा-शक्ति को बली बनाने का एक अचूक उपाय मानसिक और शारीरिक शैथिलीकरण की अवस्था मे अपने आपको शुभ-निर्देश देना है। ऐसी अवस्था में दिये गये निर्देश से मनुष्य की सभी शक्तियों की वृद्धि होती है, उसकी बुरी आदतें समाप्त हो जाती हैं, उसका मानसिक बल बढ़ जाता है और उसमें नया आत्म-विश्वास आ जाता है। इस प्रकार के अभ्यास से बहुत से मानसिक रोगों का सरलता से अन्त हो जाता है। इस प्रकार का अभ्यास बहुत ही लाभदायक होता है।

मन को वश में करने के अनोखे उपाय

मन को वश में करने के अनेक उपाय संसार के मनस्वी पुरुषों ने बताए हैं। साधारणतः जिस क्रिया को हम मन को नहीं करने देते, उसको करने की प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है। बार-बार के रोकने के यत्न से मन वश मे होता है। जहाँ मन स्वभावतः जाता है, उसे वहाँ जाने से रोकने, तथा जहाँ वह नहीं जाता, वहाँ उसे बरबस लगाने से मन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मन का वश में होना अभ्यास का परिणाम है। अभ्यास से आदत बन जाती है, और जिस ओर मनुष्य की आदत बन जाती है, उस ओर उसका मन जाने लगता है। मन स्वभावतः मूलप्रवृत्तियों की तृप्ति में लगा रहता है। आदत के द्वारा उसे नई ओर मोड़ा जाता है।

उक्त स्थिति आरोग्य मन की स्थिति है। जिस प्रकार स्कूल का मास्टर अपनी कक्षा के बालकों को अनुचित काम को न करने देकर और उचित काम कराकर नये स्वभाव का निर्माण करता है, उसी प्रकार सामान्य और विद्वान पुरुष अपने मन को अभ्यास के द्वारा वश में लाते हैं। परन्तु सामान्य शिक्षक का उपाय जटिल बालक के ऊपर लागू नहीं होता। जटिल बालक उसके दबाने के प्रयत्न से और भी जटिल बन जाता है। वह उद्दण्ड अपराधी अथवा निराशावादी हो जाता हैं। अत्यन्त कठोरता में रखा हुआ बालक आत्म-हत्या करने की बात सोचने लगता है। उसी प्रकार जटिल मन को सीधे उपायों से वश मे नहीं किया जा सकता। उसको वश में करने के लिए विलक्षण उपायों से काम लेना पड़ता है।

प्रत्येक हठी बालक में आत्महीनता की भावना होती है। यह आत्महीनता की भावना प्रेमाभाव के कारण उत्पन्न होती है। बालक अपनी प्रभुता को जमाने के लिए हठ करता है। यदि हठी बालक को सभी काम उसके हठ के अनुसार करने दिया जाय, तो उसकी हठ की मनोवृत्ति ही नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार हठी मन की बात है। जब मन किसी बात के लिए हठ करने लगे, तो उस बात से मन को बरबस रोकना, मानसिक समस्या को जटिल बनाना है। जब मन किसी हठ को न छोड़ता हो, तो मन को उसी काम को अधिक-से-अधिक करने देना चाहिये जिसको वह करना चाहता है।

हाल की ही बात है। लेखक का झगड़ा किसी एक ऐसे व्यक्ति से हो गया, जिसे वह पहले प्यार करता था। इस झगड़े की बात को वह मन से निकाल देना

चाहता था। लेखक के मन में झगड़ा करने वाले व्यक्ति के अनेक दोष आते। वह जानता था कि दूसरों के दोषों पर चिन्तन करना बुरा है। यदि हम देर तक किसी के अवगुण का चिन्तन करें, तो वह सब अवगुण हमी में आ जाते हैं। वह उस व्यक्ति के अवगुणों का चिन्तन न करने का अभ्यास करने लगा, परन्तु इसमें भी उसे सफलता न मिली। एक दिन जब वह क्रोध में आकर उक्त व्यक्ति के बारे में विचार कर रहा था, तो एकाएक उसके हृदय मे पीड़ा हो उठी, ऐसा ज्ञात हुआ मानो कोई छुरी मार रहा हो। इस विलक्षण अनुभव ने लेखक की आँख उक्त समस्या के एक नये पहलू की ओर खोल दी। कुछ ही दिन पूर्व लेखक ने विलियम स्टैकिल महाशय की "टेकनीक आफ एनीलेटिकल साइको अेमी" मे एक रोगी के हृदय के रोग का वृतांत पढ़ा था। इस रोगी को हृदय का रोग था, जिसका कारण वह नहीं जानता था। उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला,कि उसके अचेतन मन मे अपनी स्त्री, जिसको वह तलाक दे चुका था का प्रेम वर्तमान था। वह इसे नहीं जानता था। उसने एक स्वप्न में देखा कि उसकी स्त्री उसके समक्ष खड़ी है। वह उससे कहता है, कि तुम्हीं अकेली ऐसी महिला हो जिसे मैं प्यार करता हूँ। वह स्त्री बोली - तुम्हारे प्रेम पर पत्थर पड़े, तुम्हें यमराज ले जाय, मैं तुम्हारे प्रेम की परवाह नहीं करती। इस पर वह क्रुद्ध हो उठा और स्वप्न में उसने अपनी स्त्री के हृदय में एक खंजर मार दी। वह स्त्री बड़ी चिल्लाहट के साथ जमीन पर गिर पड़ी और वह व्यक्ति इस अनुभव के बाद जाग पड़ा। इस समय उसके हृदय में भारी दर्द होने लगा। वह स्वप्न मे जोर से चिल्लाया नहीं था। स्टैकिल महाशय ने इस रोगी को बताया कि वह ऊपरी मन से अपनी पहली स्त्री से घृणा करता है और उसे भुला देना चाहता है, परन्तु भीतरी मन से उसे प्यार ही करता है। स्टैकिल महाशय के इस रोगी के उक्त उदाहरण ने लेखक का अपने शत्रु के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित कर दिया। अब वह उसके दोषो पर न विचार कर गुणों पर विचार करने लगा और सदैव यह सोचने लगा कि किस प्रकार उसकी भलाई की जाय। दीपावली के दिन उसने उसे बड़े आदर के साथ अपने घर बुलाया और दो दिनों तक उसका पूरा सत्कार किया। इसके परिणामस्वरूप उक्त व्यक्ति के सम्बन्ध का उक्त विचार समाप्त हो गया और लेखक का मन रचनात्मक कार्य करने के लिए स्वतंत्र हो गया।

जब हमारा मन बार-बार किसी विशेष ओर जावे, तो हमें समझना चाहिये कि हमारा उस ओर जाना आवश्यक है। किसी व्यक्ति के बारे में बार-बार मन सोचे, और मन को बरबस रोका जाय, तो वह बड़ा हानिकारक होता है। इस

प्रकार के रोकने से भयानक शारीरिक व मानशिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब मन को उसी विचार पर बार बार ले जाया जाता है, जिस पर उसे पहले रोका जाता है, तो मन उस विचार को त्याग देता है।

लेखक की एक छात्रा, जो बड़ी स्वस्थ और विदुषी महिला थी, एक बार ज्वर, जुखाम और हृदय की पीडा के रोग से बीमार हुई। उसकी खबर लेने के लिए उसके अन्यान्य शिक्षक गये। उनमें लेखक भी गया। जब सब लोग चले गये तो लेखक से उसने यह प्रश्न पूछा यदि हमारा मन किसी बात पर बारम्बार जाता हो, तो उसे हम कैसे रोकें? उसने आगे बताया कि वह अपने पिता की स्मृति, जो बडी ही दुःखद थी, भुला नहीं सकती। पिता की मृत्यु बड़े कष्ट से हुई। उन्हें प्लूसी का रोग हुआ था। लड़की ने उनकी सेवा डेढ़ महीने तक की, परन्तु वे मर गये। छात्रा की अभिलाषा थी कि वह अपने पिता की वृद्धावस्था में उनकी सेवा करेगी। पिता ने उसे बडे कष्ट से पढाया था। पिता एक देश भक्त कांग्रेसी थे और दो बार जेल भी हो आये थे। ले० ने छात्रा की अपने पिता-सम्बन्धी स्मृति को भुलाने की प्रवृत्ति को हटाया, और उससे अनेक प्रश्न पूछ करके उनके जीवन की सभी घटनाओं को स्मरण कराया। फिर ले० ने उसे सलाह दी कि ऐसे पुन्यात्मा पिता की स्मृति को भुलाना पिता के प्रति कृतघ्नता है। परन्तु इससे अधिक कृतघ्नता तब होगी, जब वह पिता की मृत्यु से दुखी होकर मरने की इच्छा करेगी। उसके पिता देश-भक्त थे, वे स्वर्ग में यही आशा करेंगे कि उसकी लड़की उनके काम को अधिक-से-अधिक करेगी। वे स्वयं पुत्री से अपनी सेवा भला कैसे स्वीकार कर सकते थे। अतएव वृद्धावस्था के आते ही चल बसे। अब वे कहीं राजा के घर उत्पन्न होंगे। ऐसे पुन्यात्मा को कभी नहीं भुलाना चाहिए।

उक्त विचार के देने के पश्चात् छात्रा अपने पिता को स्मरण करने लगी-परन्तु पिता का विचार मस्तिष्क से चला गया। पिता की स्मृति को भुलाने के परिणाम-स्वरूप छात्रा को स्वयं वह कष्टकर रोग हो गया था, जिससे उसके पिता की मृत्यु हुई थी। छात्रा के अचेतन मनका पिता से एकत्व हो चुका था। अतएव छात्रा के जीवन मे वही बातें चरितार्थ होने लगी, जो उसके पिता के जीवन में हुई थी, और जिसे वह भुलाने की चेष्टा कर रही थी। भुलाने की चेष्टा से छात्रा का तादात्मी-करण का भाव और भी दृढ हो जाता था; और उसकी मृत्यु भी उसी रोग से हो जाती, जिस रोग से उसके पिता की मृत्यु हुई थी। पिता की स्मृति को अब भुलाने की चेष्टा न करने के कारण मानसिक तादात्मी-करण धीरे-धीरे कम हो गया। छात्रा को प्लुरूसी का रोग हो चुका था। प्लुरूसी

के बाद क्षयरोग होता है। उसे एक साल क्षय रोग के अस्पताल में रहना पड़ा। परन्तु मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हो जाने के कारण वह मृत्यु के मुख से बच गई; और इस समय वह एक उच्चकोटि के महिला-कालेज की प्राध्यापिका है।

मनुष्य के जटिल मन की गति पतंग के समान है। जैसे-जैसे हम पतंग को जमीन की ओर खींचते हैं, तैसे-तैसे पतंग आसमान की ओर चढ़ता है। जब हम उसको एका-एक ढीला कर देते हैं, तो जमीन पर आ गिरता है। इसी प्रकार जब मनुष्य का मन किसी वर्जित दिशा में बहुत ही आवेग से जावे, और उसे फिर एका-एक उस ओर जाने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय, तो उसकी उस ओर जाने की प्रवृति ही नष्ट हो जाती है। इस प्रसंग में लेखक के एक मित्र डाक्टर महादेव प्रसाद जी (गुरुकुल कांगड़ी) की कही हुई एक घटना उल्लेखनीय है। डा० सा० को कुल्फी-मलाई की दूकान देखकर कुल्फी खाने की प्रबल इच्छा होती थी; परन्तु वे अपनी इस इच्छा को चार महीने तक कुचलते रहे? इससे यह इच्छा और भी बढ़ गई। पहले तो उन्हें कुल्फी मलाई खाने की तभी इच्छा होती थी, जब वे उसकी दुकान के पास आते थे। लेकिन पीछे यह इच्छा उन्हें घर पर और आफिस में भी तंग करने लगी। अंत में उन्होंने निर्णय किया कि वे एक दिन बैठकर घण्टे भर तक कुल्फी-मलाई खावेंगे। उस दिन उन्होंने बीसों कुल्फियां खाईं। इसके बाद वह इच्छा सदा के लिए जाती रही।

कितने ही मानसिक रोगियों को मृत्यु का भय सताते रहता है। कितने ही रोगियों को कल्पित क्षय-रोग का भय रहता है। उनको कितना ही आश्वासन क्यों न दिया जाय, उनका क्षय रोग का विचार मन से नहीं जाता। ऐसे विचार के पीछे दबी हुई प्रबल भावना कार्य करती है। यह भावना मनुष्य के नैतिक धारणा के प्रतिकूल होती है। इसको चेतना की सतह पर लाने पर ही भय का विचार नष्ट होता है। भय को मन से निकालने की चेष्टा करने से वह और भी प्रबल होता है। जिस बात के बारे में मनुष्य को भय हो, उसी के बारे में बार-बार चिन्तन करना लाभदायक होता है।

भय का विनाश करने का एक उपाय भय देनेवाले पदार्थ को भला मान लेना होता है। जिन लोगों को मृत्यु का भय रहता है, वे जब मृत्यु को ही भली वस्तु मानने लगते हैं; तो उनकी मृत्यु का भय नष्ट हो जाता है। मृत्यु को भुलाने की चेष्टा से मृत्यु का विचार बार-बार आता है; और मृत्यु को सदा स्मरण रखने की चेष्टा से मृत्यु का विचार ही नहीं, प्रत्युत् स्वयं मृत्यु भी दूर भागती है। जो लोग मृत्यु का स्वागत प्रसन्नता से करने को तैयार रहते हैं, वे दीर्घजीवी होते

हैं। महात्मा कबीर और बुद्धदेव, जिन्होंने मृत्यु के बारे में सदा चिन्तन करने का उपदेश दिया, दीर्घ जीवी हुए।

जिस प्रकार बाल-हठ दमन से हटाई नहीं जा सकती; उसी प्रकार जटिलमन की हठ भी साधारण मन को रोकने के अभ्यास से हटाई नही जा सकती। मन की हठ को दूर करने के लिए सीधे उपायों से काम न लेकर परोक्ष उपायों से काम लेना पड़ता है। जिस बात की मन बार-बार हठ करता है, उसका मन के आन्तरिक शत्रु से विशेष प्रकार का सम्बन्ध रहता है। वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये आवश्यक होती है। मन को उससे वंचित कर देना व्यक्तित्व के विकास को रोक देना और मानसिक रोग का आवाहन करना है।

मानसिक शक्तियों का विकास

मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की शक्तियाँ है। मनुष्य अपनी शक्तियों को अपनी भावना के अनुसार विकसित करता है। जो व्यक्ति अपने विषय में जैसी विचार करता है, वह अपने आपको वैसा ही बना लेता है। जिस व्यक्ति का जैसा निश्चय है, वह तद्रूप है। अपना निश्चय मनुष्य के आत्म-निर्देश का कारण बन जाता है। यह आत्म-निर्देश मनुष्य को उसी ओर ले जाता है, और उसकी शक्तियों को उसी प्रकार से विकसित करता है, जिस तरह का निश्चय मनुष्य को होता है।

निश्चय का आधार अपने विषय मे ज्ञान है। अज्ञान की अवस्था में किया गया कोई भी निश्चय निर्मूल और व्यर्थ होता है। हम जितना ही अपने विषय की जानकारी बढ़ाते हैं, अपने विषय में हमारा उतना ही अधिक उच्च निश्चय होता है, और हमारी मानसिक शक्ति भी उसीके अनुसार विकसित होती है। जो व्यक्ति अपने आपको जानने की चेष्टा न कर संसार के साधारण झंझटों मे फँसा रहता है, उसका अपने विषय में कुछ भी स्थिर विचार नहीं रहता। वह अपने विषय में वैसा ही सोचने लगता है, जैसा कि दूसरे लोग उससे सोचवाते हैं। अपने विचारों पर उसका कुछ भी नियन्त्रण नहीं रहता। जब दूसरे लोग उसके विषय में सोचने लगते हैं कि वह बड़ा पतित है, दयनीय अथवा दुखी है, तो वह भी अपने विषय में वैसा ही सोचने लगता है। बहुत से मनुष्य समय के पूर्व इसलिए मर जाते हैं, कि वे अपने विषय में बाहर से आने वाले निर्देशों का सामना नहीं कर पाते। उनकी इच्छा-शक्ति निर्बल रहती है। जैसी कल्पनाएँ दूसरे लोग उनके मन मे उठाना चाहते हैं, वैसी ही कल्पनाएँ उनके मन में उठने लगती हैं। इस तरह वे अपने आपको दुखी, पागल और अल्पायु बना लेते हैं। जब तक मनुष्य अपना आत्म-ज्ञान नहीं बढ़ाता, तबतक उसका निश्चय, निराधार और डाँवाडोल रहता है। अतएव मनुष्य को बार-बार अपने विषय में चिन्तन करना चाहिये।

आधुनिक विज्ञान ने अणु की शक्ति की खोज की है। संसार का सबसे बड़ा अस्त्र अणुबम है। पिछली लड़ाई का अन्त दो ही अणुबमों ने कर दिया। यदि अणुबम जापान के शहरों पर न डाले जाते, तो लड़ाई कई वर्षों तक चलती। अणुबम की इन शक्तियों की खोज कई वर्षों से हो रही है। विज्ञान ने यह

अन्दाज लगाया कि अणु में इतनी अधिक शक्ति है, कि उसके द्वारा हम संसार का कोई भी कार्य कर सकते हैं। यदि अणु को तोड़ दिया जाय, तो इस शक्ति का उदय हो। प्रत्येक अणु का विशेष प्रकार का संगठन है। एक अणु एक सूर्य-मंडल के समान है। जिस प्रकार सूर्य-मंडल में एक सूर्य होता है और उसके आस-पास अनेक नक्षत्र घूमा करते हैं, उसी तरह एक अणु के भीतर एक प्रोटर्न होता है, जो कि स्थिर रहता है अथवा अपनी कील पर ही घूमता है; और उसके आस पास घूमने वाले 'एलेक्ट्रन' नाम के परमाणु होते हैं। अणु भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। किसी अणु में अधिक संख्या मे और किसी में कम संख्या में परमाणु होते हैं।

अणु के संगठन को तोड़ना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसके लिए वैज्ञानिकों ने विशेष प्रकार की 'साइक्लोटोन' नामक मशीनों का आविष्कार किया। भारतवर्ष में इस प्रकार की एक ही मशीन है, जो कलकत्ता-विश्वविद्यालय में है। अणु की पहिचान पहले-पहल जर्मनी के वैज्ञानिकों ने की। लड़ाई के समय अणु को तोड़ने के अनेक प्रयोग वहाँ होते रहे। अमेरिका के वैज्ञानिक भी इस प्रयोग को उसी समय कर रहे थे। अणु को तोड़ कर भी उनकी शक्ति का लाभ उठाया जा सकता है। अनेक प्रयोगों के बाद, अनेक सुविधाओं के कारण अमेरिका के वैज्ञानिक ही अणु की शक्ति को अपने उपयोग में ला सके। यह शक्ति इतनी अधिक है, कि यदि उसे विनाशकारी काम में लाया जाय; तो संसार भर के सभी बड़े नगरों का विनाश दो ही दिन में हो जाय; और यदि इस शक्ति का सदुपयोग किया जाय, तो संसार के लोग दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कर सकें। अभी तक इस-शक्ति को विनाश-कारी कामों में ही लाया गया है; न जाने कब उसे मनुष्यों के कल्याण के काम में लाया जायेगा।

अणु की शक्ति का जो भी उपयोग है, उसकी यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं। अणु की शक्ति के विषय में चर्चा करने का इतना ही प्रयोजन है, कि हम अपनी शक्ति के विषय में परचित थे। उपनिषद् के रचयिता ऋषियों ने आत्मा को अणु से अणु और महान से भी महान बताया है। यह हमारी आत्मा छोटी से छोटी और बड़ी-से-बड़ी है। जिस प्रकार अणु, जिसे कि खुर्दबीन से भी नहीं देखा जा सकता, महान शक्ति शाली है, उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा भी महान शक्ति शालिनी है। अणु, एटम और आत्मा एक ही धातु से निकले हुये शब्द जान पड़ते हैं। यह शब्द-विन्यास करने वाले विशेषज्ञों का कार्य है कि वे इन शब्दों की धातुओं का पता लगाएँ। पर यह निश्चित है कि ये तीन शब्द उस शक्ति का बोध कराते हैं, जो कल्पनातीत है। आश्चर्य की बात है

कि अणु की शक्ति के विषय में तो वैज्ञानिकों ने इतना अधिक आविष्कार कर डाला; पर आत्मा की शक्ति के विषय में, जिसने ही वास्तव में अणु की शक्ति की खोज की, कुछ भी आविष्कार नहीं किया। इतना ही नहीं, हम अपने वैज्ञानिक-ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ अपने को और भी भूलते जाते हैं।

आत्मा की शक्ति वैसी ही विचित्र है, जैसी की अणु की। इस तरह के निश्चय में तो कोई सन्देह होना ही न चाहिये। हमारा शरीर भी अनेक अणुओं का बना है। इन अणुओं में कितनी शक्ति केन्द्रित है, इसकी कल्पना कौन कर सकता है? दुबले-से-दुबला मनुष्य अपने अणु की शक्ति से संसार भर की शक्ति को नष्ट कर सकता है। पर मनुष्य शरीर-मात्र ही नहीं है। वह चेतन प्राणी है और उसमें अपने को नियन्त्रित रखने की शक्ति है। इतना ही नहीं, वह अपने को जान भी सकता है। ये शक्तियाँ जड अणु में नहीं हैं। जड़ अणु न तो स्वयं गतिवान हो सकता है, और न उसमे आत्म-ज्ञान की शक्ति है। जीवित अणु में यह शक्ति है, पर उसमें अपने को जानने की शक्ति नहीं है; अतएव उसमें आत्म-नियन्त्रण की भी योग्यता नहीं है। चेतन अणु, जो कि मनुष्य के रूप मे रहता है, न केवल शक्ति का केन्द्र है, बल्कि वह स्वयं क्रियमाण और ज्ञान-वान है। अपने विषय मे चिन्तन न करने के कारण ही वह दयनीय बन जाता है। आत्म-ज्ञान के अभाव में बाहरी विचार मनुष्य के मस्तिष्क में स्थान पा लेते हैं, और इन विचारों के कारण ही मनुष्य अपने को संसार का तुच्छ प्राणी समझने लगता है।

मनुष्य एक चेतन अणु है। अणु की शक्तियों को बाहर निकालने के लिये दूसरे लोगों को प्रयत्न करना पड़ता है। स्वयं अणु न तो अपनी शक्ति का ज्ञान रखता है, और न उस शक्ति को प्रकाशित कर सकता है। जड़ अणु की शक्तियों को प्रकाशित करने के लिये चेतन अणु कि सहायता की आवश्यकता होती है। चेतन अणु अपनी शक्तियों को स्वयं जान सकता है और उन शक्तियों को प्रकाशित कर सकता है। इस कार्य में लगन भर की अपेक्षा है। जिस प्रकार की लगन वैज्ञानिकों ने जड़ अणु की शक्ति की खोज में दिखाई है, उससे कहीं अधिक लगन चेतन अणु की शक्ति का पता चलाने के लिये आवश्यक है।

"जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बउरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ॥

आत्म-ज्ञान संसार का सबसे बडा पुरुषार्थ है। आत्म-ज्ञान से मौलिक कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। पर यह उसे ही प्राप्त होता है, जो धुन का पक्का है। आत्म-

ज्ञान के प्राप्त करते समय अनेक प्रकार की बाधायें और संकट उत्पन्न होते हैं; जिस प्रकार के संकट अणु की शक्ति की खोज के समय उत्पन्न हुये थे। जो लोग इन बाधाओं के होते हुये भी अपने काम में लगे रहते हैं, वे ही आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस लगन को दृढ़ बनाने के लिये आत्म-ज्ञान की मौलिकता पर बार-बार विचार करना आवश्यक है। आत्म-ज्ञान के प्राप्त होने पर मनुष्य उसी प्रकार निर्भीक हो जाता है, जिस प्रकार 'एटम बम' के प्राप्त होने पर राष्ट्र।

इच्छा और कल्पना

मनुष्य का मानसिक बल और स्वास्थ्य उसकी इच्छा और कल्पना की एकता पर निर्भर है। इच्छा का स्रोत चेतन मन मे रहता है, और कल्पना का अचेतन मन मे। जिस व्यक्ति के मन में इन दो शक्तियों का जितना ही साम्य रहता है, उसका जीवन उतना ही आनंदमय होता है। ऐसा व्यक्ति अपने संकल्पों को सफल बनाने मे समर्थ होता है। जब कभी इच्छा और संकल्प का विरोध उत्पन्न हो जाता है, तो मनुष्य का मानसिक बल, उसका स्वास्थ्य, आनन्द तथा कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की सारी शक्ति अपने आप से ही लड़ने में नष्ट हो जाती है। वह जिस विचार को मन से निकालने की चेष्टा करता है, वही विचार उसके मन में बार-बार आता है। मानसिक रोग की अवस्था में इच्छा और कल्पना का संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्वल हो जाती है, उसे भले विचार नहीं सूझते और अप्रिय विचार ही बाध्य विचार बनकर दुख देते रहते हैं।

लेखक का ऐसे अनेक मानसिक रोगियों से परिचय होता रहता है, जिनका जीवन इच्छा और कल्पना के संघर्ष के कारण दु:ख-मय बन गया है। वे यदि किसी रोगी को देखने जाते हैं, अथवा किसी रोगी की करुण-कहानी सुनते हैं, तो उस रोग की कल्पना वे अपने आप में करने लगते हैं; जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें भी वह रोग हो जाता है। किसी प्रकार की प्रबल कल्पना आचरण में तथा शारीरिक परिवर्त्तननों में फलित होती है। यदि किसी कल्पना को उसके विरोधी विचार के द्वारा रोका न जाय, तो वह अवश्य ही अपने अनुरूप शरीर तथा आचरण में परिवर्तन कर डालती है। हमारे मन में अनेक भली और बुरी कल्पनाएँ सदा उठा करती हैं। हम अपनी इच्छा-शक्ति-द्वारा बुरी कल्पनाओं को मन से सदा हटाते रहते हैं। इस कारण वे फलित नहीं होती हैं। किन्तु जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्वल हो जाती है, तो कल्पनाओं को मन से हटाना कठिन हो जाता है ऐसी अवस्था में बुरी कल्पनाएँ अपने अनुरूप वातावरण का निर्माण कर डालती हैं, और शारीरिक या मानसिक रोग उत्पन्न कर देती हैं।

लेखक का एक मित्र अपने एक सम्बधी की कुशलता पूछने एक अस्पताल मे गया। उस मित्र को हृदय का रोग पहले ही से था, और उसके सम्बधी को भी हृदय का रोग था। उस सम्बधी ने उससे कहा कि उसे कुछ दिन पहले से रीढ़ की हड्डी में दर्द हो गया है। इस बात को सुनने के पश्चात उसी दिन उक्त मित्र को भी रीढ़ की हड्डी मे दर्द होने लगा। उन्हें हृदय का रोग भी उसी प्रकार प्रारम्भ हुआ था। उन्होंने अपने एक मित्र के हृदय के रोग की खबर सुनी, तो उन्हें भी

हृदय के रोग की कल्पना हो गई। यह कल्पना वास्तविक रोग मे परिणत हो गई, उन्होंने इस कल्पना को मन मे निकालने की चेष्टा की, पर वह और भी प्रबल होती गई। जिस प्रकार हृदय के रोग बाध्य विचार के रूप से रोगी को पीड़ित करते रहते हैं, उसी प्रकार क्षयरोग का विचार भी कितने ही व्यक्तियो को बाध्य विचार के रूप से पीड़ा देता रहता है। जो व्यक्ति जितना ही इस विचार को मन से निकालने की चेष्टा करता है, वह उतना ही प्रबल होता जाता है। अकस्मात् मृत्यु का विचार भी अनेक लोगों को इसी प्रकार की पीड़ा देता है। मानसिक रोगो की एक विशेषता यह है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक मानसिक रोगो से मुक्त होने के लिए उद्विग्न-मन रहता है; ये रोग उसको उतना ही अधिक सताते हैं। लेखक को ऐसे अनेक रोगी मिलते हैं, जिन्हे साँप का भय, गन्दगी छूने का भय और गन्दे विचारों के भय पीड़ित करते रहते हैं। ऐसे सभी रोगियों के मन में इच्छा और कल्पना का संघर्ष रहता है। कितने ही लोग किसी साधारण-सी बात के लिये आत्मभर्त्सना के विचार को मन से निकालने का प्रयत्न करते हैं; पर वह उतनी ही प्रबल होती जाती है। जिन लोगों को हस्तमैथुन की आदत एक बार लग जाती है, वे अपनी इस आदत के लिए आत्मभर्त्सना करते रहते हैं, परन्तु इससे वह आदत छूटने की बजाय बढ़ती ही जाती है। कभी-कभी यह बुरी आदत छूट भी जाती है और आत्मभर्त्सना का प्रधान कारण विस्मृत हो जाता है। किसी साधारण सी भूल के लिये ही मनुष्य को आत्मभर्त्सना होने लगती है। इस विचार को निकालने के प्रयत्न करते रहने से वह विचार और भी प्रबल हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक खोज यह है कि जब कभी इच्छा और कल्पना में संघर्ष उत्पन्न होता है तो विजय प्रायः कल्पना की ही होती है। फ्रान्स के मानसिक चिकित्सक श्री इमीलकूए महाशय अपनी पुस्तक "सेल्फ मास्टरी थ्रू औटोसजेशन" मे लिखते हैं कि जब कभी इच्छा और कल्पना का संघर्ष उत्पन्न हो तो हमे कल्पना को दबाने का प्रयत्न न करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार का प्रयत्न सदा व्यर्थ जाता है। हम जितना ही इच्छा-शक्ति का बल बढ़ाते हैं, कल्पना का बल उस बल के वर्ग के बराबर अपने आप बढ़ जाता है। मान लीजिए प्रारम्भ में इच्छा शक्ति का बल दो माप के है और कल्पना का तीन माप। उसमे दो माप बल और बढ़ा दिया जाय तो अपने आप ही कल्पना का बल उसके वर्ग के बराबर बढ़ जावेगा अर्थात् जब इच्छा-शक्ति का बल २ + २ = ४ माप हुआ तो कल्पना का बल ३ × ३ = ९ माप बढ़ जावेगा इससे यह स्पष्ट है कि अपनी

कल्पना से लड़ना निरी मूर्खता है। इस युद्ध मे इच्छा शक्ति की निश्चित ही हार होती है।

जब इच्छा और कल्पना मे संघर्ष की अवस्था रहती है, तो मनुष्य के विचार व्यर्थ हो जाते हैं और अशुभ विचार ही फलित होने लगते हैं। मनुष्य के मन को दुख देनेवाली कल्पनाये ही उस समय मन मे आती हैं। मनुष्य का मन उसके लिए नरक बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति के विषय मे कोई अभद्र विचार मन में आ गया, तो वह उस विचार से मुक्ति नही पाता। इस प्रकार की मानसिक अवस्था के कारण उसके घर के लोग भी उसे शत्रु के रूप मे दिखाई देने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति बहुत कम लोगों को अपना मित्र बना पाता है। वह सभी के प्रति सतर्क और संदिग्ध मन रहता है।

इच्छा और कल्पना मे संघर्ष का कारण मनुष्य का अवाछनीय अभ्यास होता है। जब कोई भावना मनुष्य मन मे लाता है तो वह उसके स्वभाव का अंग बन जाती हैं। फिर किसी संस्कार को एकाएक मन से निकाल देने की चेष्टा अत्यन्त हानिकारक होती है। जिस प्रकार कोई संस्कार धीरे-धीरे मन मे दृढ होता है, उसी प्रकार वह धीरे-धीरे मन मे जाता भी है। पुराना संस्कार अनेक प्रकार की कल्पनाओं के रूप में मानस-पटल पर आता है। यदि वह संस्कार भला हुआ तो कल्पनाये भली होती हैं और यदि वह बुरा हुआ, तो कल्पनाएँ भी बुरी होती हैं। क्रोध, ईर्ष्या, कामुकता, लोभ आदि के संस्कार मनुष्य के आन्तरिक मन मे घर कर लेते हैं तो वे अभद्र कल्पनाओं के कारण बन जाते हैं। मनुष्य का चेतन मन इन संस्कारों को नहीं जानता है, उसे केवल परिणाम का ही ज्ञान होता है। वह इन अभद्र कल्पनाओं से लड़ता है, परन्तु इनसे लड़ने में लाभ ही क्या? क्योंकि जब तक अभद्र कल्पनाओं का मूल कारण वर्तमान है, तब तक ये कल्पनाये मन मे आती ही रहेंगी।

विशेष प्रकार का संस्कार विशेष प्रकार की कल्पनाओं को मन में उठाता है। क्रोध भयजनक कल्पना को मन में लाता है, ईर्ष्या रोग की कल्पना को मन मे लाती है, लोभ मृत्यु की कल्पना लाती है और काम-वासना आत्म-भर्त्सना की कल्पना को मन में उत्पन्न करती है। पुराने संस्कारों को विस्मृत करने की जितनी ही चेष्टा की जाती है कल्पना उतनी ही प्रबल होती है ये कल्पनाये बरबस यह स्वीकार कराती हैं कि हम जैसे अपने आपको समझ बैठे हैं, वैसे नहीं हैं। हम अपने से बाहर दोष को ढूँढ़ते हैं, परन्तु दोष तो हममे ही है, जो व्यक्ति जितना ही शीघ्र इस बात को स्वीकार कर लेता है, वह उतना ही शीघ्र मानसिक संघर्ष से मुक्त भी हो जाता है।

इच्छा और कल्पना में एक बार संघर्ष होने के बाद उसे अन्त करने का उपाय जानना आवश्यक है। इस संघर्ष का अन्त हठधर्मी के द्वारा नहीं हो सकता। इसमे तो मनुष्य आत्म-विनाश कर डालता है। अंग्रेजी मे कहा गया है कि प्रकृति के नियमों को मानकर ही प्रकृति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। मन पर विजय प्राप्त करने की एक विशेष विधि है। इस विधि को समझना मानसिक संघर्ष का अन्त करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। कल्पना और इच्छा के संघर्ष का अन्त करने का पहला उपाय यह है कि मनुष्य अपनी कल्पना को छूट दे दे कि वह चाहे प्रकार के जिस मानस-पटल पर लाना चाहे, ले आये। इस तरह वह अपने मानस-पटल पर अभद्र-से-अभद्र कल्पना को अनियन्त्रित रूप से आने दे। यदि किसी व्यक्ति को काम-वासना के विचार त्रास देते हैं, तो वह उन विचारों को कुछ समय के लिए खूब आने दे। इसी तरह किसी रोग के अथवा मृत्यु के विचार मनुष्य को त्रास देते है, तो वह उन विचारों का स्वागत करे और यह मन मे लाये कि उसके मानस-पटल पर उन विचारों का आना ही अच्छा है। किसी भी गन्दे विचार को मन से निकालने की चेष्टा न करे। इस प्रकार नित्य प्रति अभ्यास करते रहने मे बहुत से अवांछनीय मानसिक संस्कारों का रेचन हो जाता है। प्रत्येक प्रकार की मानसिक शक्ति प्रकाशन से क्षीण होती है और दमन से बढ़ती है। वस्तुतः जब किसी मानसिक संस्कार के प्रकाशन को स्वतन्त्रता दे दी जाती है, तो उसका बल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार के मानसिक रेचन का लाभ यह होता है कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति किसी प्रकार के व्यर्थ प्रयास मे नष्ट नहीं होती; प्रत्युत वह संचित हो जाती है। फिर यही संचित शक्ति नये रचनात्मक कार्यों मे लगाई जाती है। इच्छा और कल्पना के संघर्ष को रोकने का दूसरा उपाय प्राणायाम का अभ्यास है। अभ्यास के द्वारा सभी प्रकार के विचार स्थगित हो जाते हैं। इस अभ्यास के करते-करते जब मनुष्य को नींद आ जाती है तो बहुत से अवांछनीय संस्कार जो अप्रिय कल्पनाओं के कारण होते हैं, अपने आप नष्ट हो जाते हैं। सोते समय भले विचारों को लेकर सोना, इच्छा और कल्पना के संघर्ष का तीसरा उपाय है। इसके लिए सभी समय कुछ भले विचारों का अभ्यास करना आवश्यक है। धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने से कुछ भले विचार मन में आते हैं और पुराने अशुभ संस्कारों को नष्ट करते हैं। इच्छा और कल्पना संघर्ष को अन्त करने का चौथा उपाय प्रति भावना का अभ्यास है। क्रोध और ईर्ष्या के भावों का अन्त मैत्री-भावना के अभ्यास से होता है। लोभ का अन्त बार-बार संसार की अनित्यता पर विचार करने से होता है और कामवासना के संस्कारों का अन्त सुन्दरता में असुन्दरता की

कल्पना करने से, शरीर की गन्दगी पर ध्यान करने से और मृत्य शरीर की वीभत्सता पर विचार करने से होता है।

परन्तु किसी प्रकार का अभ्यास तभी सम्भव है जब मनुष्य मानसिक उपराम की अवस्था को प्राप्त कर ले। यह उपराम पहले-पहल कल्पना को मन से स्वतन्त्र रूप से आने देने से प्राप्त होता है। अपने आप मे साक्षीवत् होकर कल्पना के सभी चित्रो को देखते रहना और मन मे आये सभी भले-बुरे चित्रों को आने-जाने देना मानसिक शक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। यह अभ्यास मानसिक सैथिलीकरण का अभ्यास कहा जाता है। पहले-पहल मनुष्य को अपने मन को मनमानी करने की छूट देनी पड़ती है। वह पीछे ही मन को जिस ओर ले जाना चाहता है ले जा सकता है। मन का हठ बालक के हठ के समान है। यदि बालक किसी बात के लिए हठ करने लगे और उसके हठ को न मानकर हम उसका दमन करे तो इससे बालक को लाभ नहीं होता। बालक इससे हमारे वश में होकर हमारा शत्रु बन जाता है। उसका उत्साह भंग हो जाता है। या तो वह उद्दण्ड बन जाता है या वह निकम्मा बन जाता है। यह दोनों ही स्थिति बुरी है। जो साव-धानी सुयोग्य अभिभावक बालक को वश मे लाने के लिए करता है वही साव-धानी अपने मन को वश मे लाने के लिए आवश्यक है।

बच्चों के प्रेम से मानसिक लाभ

हजरत ईसा ने कहा था कि बच्चों को मेरे पास आने दो; उन्हें रोको मत, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। जो व्यक्ति बच्चों को जितना अधिक प्यार करता है वह उतना ही दैविक आनंद का उपभोग करता है। मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से बच्चों का साथ जितना लाभदायक है उतना दूसरा कोई भी साधन नहीं है। जिन लोगों को बच्चे खेलने-खिलाने के लिये नहीं मिलते वे बहुत ही दुःखी रहते हैं। ऐसे लोगों को किसी न किसी प्रकार का कल्पित अथवा वास्तविक रोग हो जाता है। जितना समय वे बच्चों की सेवा में व्यतीत करते हैं उतना समय उन्हें अपने रोग के विषय में ही चिन्ता करने में व्यतीत करना पड़ता है।

मेरे पास विश्वविद्यालय में पढ़नेवाला बी० ए० कक्षा का एक बीस वर्ष की आयु का छात्र आता है। उसने मनोविज्ञान का विषय अपनी परीक्षा में लिया है। वह मेरी खोज में पहले से ही था। जब कोई भी नवयुवक मेरे पास आता है तब मैं उसके विषय में किसी मानसिक दुःख की कल्पना करता हूँ। अधिकतर ऐसे ही नवयुवक मेरे पास आते हैं जिन्हें कोई मानसिक व्याधि रहती है अथवा जो अपने जीवन-सम्बन्धी समस्या का हल चाहते हैं। इस नवयुवक के विषय में ऐसी कोई बात नहीं थी। इस युवक ने मनोविज्ञानशाला की कुछ बैठकों में भाग लिया। वह पीछे बार-बार आने लगा। उसके साथ मेरी छोटी बच्ची शारदा खेलती रहती है। उस बच्ची से उसका इतना प्रेम हो गया है कि अब वह उसके लिए ही मेरे घर पर आता है। वह बच्ची को अनेक प्रकार की खाने की वस्तुएँ अथवा फुक्के ले आता है। इससे उस विद्यार्थी का जीवन स्वस्थ और आनंदमय हो गया है।

आज से दो वर्ष पूर्व एक वयोवृद्ध व्यक्ति जिन्होंने अपने वैद्यक के कार्य से पर्याप्त धन कमाया था, मानसिक व्याधि से पीड़ित होकर मनोविज्ञानशाला में सलाह के लिये आये। उनकी आयु ६५ वर्ष की थी। परन्तु जीवन की निम्नकोटि की वासनायें उन्हें तंग करती थीं। इसके दबाने के प्रयत्न से उनके जीवन में भारी असंतोष और अशान्ति हो गई थी। इनके जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया। उसमें प्रेम की कमी पाई गई। जब मनुष्य के जीवन में प्रेम की कमी होती है तब कामवासना प्रबल हो जाती है। किसी प्रकार के प्रेम के प्रकाशन से कामवासना की शक्ति का शोध होता है। इस प्रकार परिवार का प्रेम, बच्चों से प्रेम और मानव जाति मात्र से प्रेम कामवासना की शक्ति का सदुपयोग करते हैं। अतएव इनके उपचारार्थ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा और बच्चों को पढ़ाना-लिखाना और उन्हें मिठाई बाँटने का काम बताया गया। इस प्रकार की सेवा से उन्हें अपूर्व लाभ हुआ।

कुछ दिन बाद उनसे मिलने पर उन्होने बच्चो के पढ़ाने से मानसिक लाभ का वर्णन किया। उनका कथन था कि बच्चो को पढाने के लिए मुझे बच्चे के मन को समझना पड़ा। विशेषकर बालक हठ क्यो करते हैं और उनकी हठ को कैसे हटाया जा सकता है, यह बात उनकी शिक्षा से समझ मे आई। परन्तु बालमन को इस प्रकार समझने की चेष्टा से स्वय मुझे अपने बालमन का स्वभाव ज्ञात हो गया और फिर मैं उसे उसकी हठ से हटाने मे समर्थ हुआ। इस प्रकार मेरे निराशावादी विचारो का अन्त हो गया।

जिस प्रकार उक्त वैद्य को बच्चों के प्रेम से विषाद रोग से मुक्त होने मे सहायता मिली, उसी प्रकार मेरे एक और वैद्य मित्र को अपने पेट के रोग से मुक्त होने मे बच्चो को खिलाने और उनके साथ खेलने से लाभ हुआ। जो मनुष्य हर समय प्रौढ़ बना रहता है वह कब्र मे जाने की तैयारी करते रहता है। मनुष्य जिस प्रकार के लोगों मे रहता है उसी प्रकार का वह बन जाता है। पूरे मन से बच्चों के साथ खेलने से मनुष्य दीर्घजीवी हो जाता है। उसमे बच्चा की सरलता आ जाती है।

मन की विभाजित अवस्था मे मनुष्य बच्चो को प्यार नहीं कर पाता। हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति बच्चों को गोदी मे लेना नहीं चाहता। जिन लोगों को अपनी स्त्री से प्रेम नहीं होता उन्हें अपने बच्चो से प्रेम नहीं होता। ऐसे व्यक्ति बच्चो की उत्पत्ति भार-रूप मानते हैं। कभी-कभी ऐसे लोग बच्चो के बिगड़ जाने के भय से चिन्तित रहते हैं, अतएव वे उनकी अनेक प्रकार की नैतिक शिक्षा की ही योजना बनाते रहते हैं। बच्चों के सुधार के विषय में अत्यधिक चिन्तित रहना उन्हे बिगाड़ने का अचूक मार्ग है।

जिन लोगों को अपने बचपन मे ताड़ना मिली है वे बच्चो को ताड़ना देने के अनेक कारण खोज लेते हैं। ऐसे लोगों में अपने भीतर हीनता का भाव रहता है। वे इस हीनता के भाव को बच्चों मे भी उन्हे अनेक प्रकार की शिक्षा देकर उत्पन्न कर देते हैं। बच्चो की उन्नति उनके स्नेह और सहानुभूति से होती है, उनके प्रति केवल सुधार की भावना रखने से उनका लाभ न होकर हानि हा होती है। फिर बिना सहानुभूति के बच्चो के सुधार का काम करने से अपने आपका लाभ नहीं होता।

बड़े-बड़े दार्शनिक कभी-कभी अपने ही विचारो से परेशान हो जाते हैं। शुष्क दार्शनिक मनुष्य को मानसिक शान्ति नहीं देता। जबतक मनुष्य के भावों की पूर्ति नहीं होती मनुष्य दुखी रहता है। जो व्यक्ति केवल दार्शनिक विचार में निमग्न रहते हैं वे निरानन्द हो जाते हैं। इस प्रकार वे अपने दार्शनिक विचार

को ही झूठा बना देते हैं। बच्चों के प्रति प्रेम-प्रदर्शन से मनुष्य अपने हृदय की माँग की पूर्ति करता है। जो मनुष्य इस माँग की पूर्ति नहीं करता वह मानसिक रोगों की वृद्धि अपने जीवन में कर लेता है। व्यास ऋषि को जब सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों से शान्ति न मिली तो उन्हें कृष्ण भगवान् की बाललीला को गाना पड़ा। इसी प्रकार श्री मद्भागवत की सृष्टि हुई।

देखा गया है कि बूढ़े लोग अपने नातियों को खिलाने में विशेष प्रकार की रुचि दिखाते हैं। वे इस प्रकार बच्चों का कल्याण तो करते ही हैं, अपने आपका भी वे कल्याण करते हैं। बच्चों के भाव उनके भावों को जीवित रखते हैं। इस प्रकार वे बुढ़ापे के बोझ से बच जाते हैं। जो लोग अपने बुढ़ापे में बच्चों के साथ बातचीत करना और उनकी खेलों भाग लेना नहीं सीख लेते वे अपने जीवन को भार-रूप बना लेते हैं। ऐसे लोग चिड़चिड़े हो जाते हैं। जिस व्यक्ति से बच्चे सहज भाव से आकर्षित नहीं होते वह भीतर से दुःखी मन का रहता है। बच्चों को आकर्षित करने के लिये अपने अभिमान का त्याग करना नितांत आवश्यक है और यह तभी होता है जब मनुष्य का मन प्रेम के भावों से पूरित रहता है। अभिमान मनुष्य को बाहरी बड़प्पन अवश्य दे, मानसिक शान्ति नहीं देता।

सभी प्रकार के रोगों का जन्म प्रेमाभाव और मानसिक अशान्ति से होता है। बच्चों के प्रति प्रेम मनुष्य को दूसरों का प्रिय बना देता है। इससे उसे अनायास शान्ति हो जाती है। इस प्रेम से मानसिक विभाजन का अन्त हो जाता है। इससे मानसिक आरोग्य की वृद्धि होती है। इससे मनुष्य के जीवन में भावों और बुद्धि का सन्तुलन हो जाता है और इस प्रकार मनुष्य अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से बच जाता है।

मन का विभाजन

मानसिक आरोग्य की अवस्था में मनुष्य की प्रत्येक शक्ति एक ही लक्ष्य की ओर कार्य करती है, उसकी ज्ञात और अज्ञात प्रवृत्तियाँ आपस मे सामजस्य बढ़ाती हैं। परन्तु जब मनुष्य का ज्ञात भाग एक ओर कार्य करता हो और उनकी अज्ञात प्रवृत्तियाँ दूसरी ओर जा रही हों तब मन के विभाजन की अवस्था हो जाती है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य अपनी इच्छा के प्रतिकूल कुछ का कुछ कह बैठता है, वह ऐसे काम कर डालता है जिसके लिए उसे पछताना पडता है। जिस बात को हम याद रखना चाहते है वह भूल जाती है और जिसे हम भूल जाना चाहते हैं वह याद रहती है। हम किसी विषय पर चित्त को एकाग्र नहीं कर पाते।

मन की विभाजित अवस्था मे मनुष्य को अनेक प्रकार की मानसिक बेचैनी होती है, वह अपनी अकारण ही आत्म-भर्त्सना करते रहता है। कभी-कभी उसे मूर्च्छा का रोग हो जाता है। सदा विपादमय जीवन रहता है, सभी बातों मे निराशा दिखाई देती है। कभी-कभी मानसिक अशान्ति शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेती है। ये शारीरिक रोग वास्तविक अथवा कल्पित होते हैं। लगातार सिर अथवा पेट की पीडा, हृदय की धडकन, किसी विशेष अग मे चमक, लकवा आदि रोग जो अधिकतर आरोपित होते हैं, ऐसी स्थिति में हो जाते हैं। कभी-कभी क्षय, दमा, उकवत, पेट के फोडे आदि वास्तविक रोग भी इस अशान्ति के कारण हो जाते हैं। मन की अशान्त अवस्था मे मनुष्य रोग का आवाहन करता है, जब रोग, चाहे वह कल्पित हो अथवा वास्तविक, आ जाता है तब मानसिक अशान्ति कुछ कम हो जाती है, जब किसी बाहरी उपचार से शारीरिक रोग कम हो जाता है तो एकाएक मानसिक रोग बढ़ जाता है। कितने ही रोगियों को शारीरिक रोग आत्म-हत्या करने से बचाता है।

यह मन की विभाजन को अवस्था क्यों उत्पन्न होती है, इसपर विचार करना हमें अपने को स्वस्थ रखने के लिए और दूसरों को आरोग्य प्राप्त करने मे सहायता देने के लिए नितान्त आवश्यक है। मानसिक रोगियों के बचपन के जीवन के अध्ययन से पता चलता है कि मन की विभाजन की अवस्था ऐसे ही लोगों में आती है जिनकी बचपन की इच्छाओं की किसी कारणवश तृप्ति नहीं हुई। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसकी सभी प्रकार की इच्छाओं की समुचित तृप्ति से होता है। प्रत्येक इच्छा का अपना काल होता है। जब इस काल मे उस इच्छा की तृप्ति नहीं होती तो वह मनुष्य के जीवन के विकास को

रोक देती है। ऐसे व्यक्ति में अपने प्रति हीन-भाव रहता है। परन्तु अपने हीन-भाव को विस्मरण करने के लिए वह महानता का आंडबर रचता है। वह कुछ ऐसे विचक्षण कार्य कर लेता है जिससे दूसरों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो और वह उनकी प्रशंसा का पात्र बन जाय।

कितने ही बालकों को बचपन से ही बड़ा शिष्टाचार सिखा दिया जाता है। जब ऐसे बालकों में किसी प्रकार की काम-प्रवृत्ति देखी जाती है तो उसका कठोरता से दमन किया जाता है। उन्हें कठोर नैतिक शिक्षा दे दी जाती है। यह शिक्षा उनके वास्तविक मन का अंग बन जाती है। फिर यदि बालक इसके प्रतिकूल आचरण कर बैठे, अथवा इसकी कल्पना भी करे तो उसकी संस्कार-जन्य नैतिक बुद्धि उसकी भर्त्सना करने लगती है। अब उसकी मानसिक शक्ति विभाजित होने लगती है। एक ओर वह भोगमय इच्छा में बँट जाती है और दूसरी ओर वह एक कठोर कृत्रिम नैतिक बुद्धि का रूप धारण कर लेती है। इसे झूठी 'सुपर ईगो' आधुनिक मनोविज्ञान में कहा जाता है। मनुष्य इस झूठी नैतिकता का अभिमान करने लगता है और जैसे-जैसे उसका यह अभिमान बढ़ता है वैसे वैसे उसकी मानसिक अशान्ति भी बढ़ जाती है।

जिन लोगों को झूठी नैतिकता का अभिमान होता है वे स्वयं इसे नहीं जानते। उनके बाहरी व्यवहार में बड़ी ही सरलता और सौजन्यता दिखाई देती है। परन्तु यह सरलता और सौजन्यता भी उनका अभिमान ही बढाती है, अतएव इससे मानसिक अशान्ति बढ जाती है। ऐसे व्यक्ति अपने आपको सुधारने के लिए तैयार नहीं रहते। वे प्रायः दूसरे लोगों को सुधारने में ही लगे रहते हैं। इनका शिक्षक रोग अथवा कोई बाहरी दुर्घटना होते हैं।

मन के विभाजन की अवस्था अपने ही प्रति किये गये अन्याय के कारण उत्पन्न होती है। लेखक के एक मित्र कई वर्षों से मन पर विजय की साधना कर रहे हैं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ही स्त्री, घर-द्वार छोड़कर साधु हो गये हैं। अब उनकी प्रतिष्ठा समाज में बढ़ गई है। परन्तु भीतर से उन्हें शान्ति नहीं है। उनका एक रोग यह है कि जब कोई व्यक्ति उनसे परिचित हो जाता है और उनके प्रति सम्मान का भाव रखने लगता है, अर्थात् जब उन्हें इस प्रकार के सम्मान का ज्ञान होता है तभी से वे उस व्यक्ति से ठीक तरह से बात-चीत नहीं कर पाते। बात-चीत करते समय उनकी दृष्टि गिर जाती है और शरीर के निम्न भागों पर चली जाती है। इससे वे परेशान हो जाते हैं। वास्तव में यह उनकी कामवासना का, जिसका उन्होंने दमन किया है, उसके उस व्यक्तित्व के प्रति षड्यन्त्र है जिसका अभिमान उन्हे है।

लेखक के एक शिष्य को जिसकी आयु २४ वर्ष की है, मूर्च्छा का रोग था। मूर्च्छित होने के पूर्व उसे अपने हाथ के अंगूठे से बिजली जैसा धक्का लगता था और फिर वह आगे बढ़ते-बढ़ते दिमाग तक जाता और व्यक्ति को मूर्च्छित कर देता था। उसके बचपन के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसकी माँ ने उसे कठोर नैतिकता की शिक्षा दी थी, उसकी कामप्रवृत्तियों का दमन हुआ था। कठोर नैतिकबुद्धि के कारण कामक्रीड़ाओ के लिये आत्म भर्त्सना हुई और फिर इन्हे विस्मरण कर दिया गया। परन्तु इससे काम-वासना का अन्त न होकर वह और भी प्रबल हो गई। इसे दबाने के लिये इस छात्र को तपस्वी का जीवन रखना पडा। सभी प्रकार स्त्रियों से दूर रहना, कामक्रीडा के विचारो को मन मे न आने देना, सादगी के कपडे पहनना, सादा भोजन करना आदि बातें वह चरितार्थ करने लगा। परन्तु इन सब बातो से उसे मानसिक शान्ति न होकर और अशान्ति ही बढी। उसकी मूर्च्छा का रोग बढता गया।

मनोविज्ञानशाला मे आने पर रोगी से मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया गया। उसकी दबी स्मृति को चेतना की सतह पर लाने की चेष्टा की गई। यह आत्मनिर्देश द्वारा शैथिलीकरण की अवस्था मे आई। धीरे-धीरे उसकी दबी कामवासना की शक्ति कम हुई। अपनी अर्धसुप्त अवस्था मे रोगी अपनी पुरानी स्मृति को सजीव रूप से देखता और पुराने अनुभव का अभिनय करता था। इससे विशेष प्रकार की शारीरिक चेष्टायें भी होती थी। इन चेष्टाओं के और स्मृति के जागरण के परिणामस्वरूप उसके दबे भावो का रेचन हो गया और उसका मानसिक क्लेश तथा मूर्च्छा का रोग जाता रहा।

हाल मे ही एक दूसरा प्रतिभावान् कालेज का विद्यार्थी अपनी मानसिक व्यथा लेकर आया। यह सभी परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे और कक्षा मे प्रथम आते हुए पास करता रहा है। परन्तु तिसपर भी उसका जीवन अशान्ति से भरा था। वह अपनी अशान्ति का कारण भी नहीं जानता था। वह इतना अवश्य कहता था कि उसके बडे भाई जो उसे खर्च का पैसा देते हैं, बडे ही सख्त व्यक्ति हैं। वे अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी काम के लिये लोगो को बहुत ही डॉटते हैं और उसे भी उनकी बहुत डॉट सुननी पड़ी है। इस विद्यार्थी का सम्मान उसके कक्षा के विद्यार्थी खूब करते हैं, परन्तु तिसपर भी वह अपने भीतर हीनता के भाव का अनुभव करता था।

विद्यार्थी से मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया गया। इसके परिणामस्वरूप उसके दबे भाव मानसिक स्तर पर आये। उन्हें वह जानकर चकित हो गया। बचपन से अब तक जो कुछ कामक्रीड़ायें उसने की थीं वे सभी

धीरे-धीरे शैथिलीकरण की अवस्था मे मानस-सतह पर आने लगीं। इस कार्य मे अपना आत्म-निर्देश बहुत ही सहायक होता है। जैसे-जैसे ये घृणित दबे भाव चेतना की सतह पर आते गये और उनके प्रति घृणा के भाव का अन्त होता गया, वैसे-वैसे उसकी मानसिक अशान्ति और आत्मग्लानिका भाव भी जाता रहा। उसकी प्रसन्नता और कार्यक्षमता उसी आकार मे बढ़ती गई।

जिस प्रकार समाज के अछूत समाज के ऊपर भार बन जाते हैं, वे समाज के प्रति षड्यन्त्र करने के लिये सदा उद्यत रहते हैं, उसी प्रकार हम जिन इच्छाओं को अछूत तथा दूषित मानते हैं वे हमारे पवित्र समझे जानेवाले व्यक्तित्व के प्रति गुप्त रूप से निरोध करती हैं और उसके मार्ग मे सदा रोड़ा डालती रहती हैं। जब कोई मनुष्य अपने स्वभाव के सभी अगों को स्वीकार करता है, जब वह किसी भाग को अछूत नही मानता और किसी का बहिष्कार नही करता तो वह सभी भागो में एकता स्थापित करने मे समर्थ होता है। उनके मानसिक विभाजन का फिर अन्त हो जाता है। इसके लिये भले और बुरे समझे जाने-वाले भाग को एक सतह पर लाना आवश्यक होता है। इससे एक ओर मनुष्य की नैतिकता का अभिमान कम हो जाता है और दूसरी ओर उनकी दबी वास-नायें चेतना की सतह पर आ जाने से शक्ति-हीन हो जाती हैं। वे फिर अपनी शक्ति व्यक्तित्व के भले भाग को दे देती हैं और फिर व्यक्ति आश्चर्य-जनक सफ-लता अपने काम से प्राप्त करता है।

मानसिक विभाजन के मिटाने का उत्तम उपाय श्री प्रो० जे० आर० ए० हेडफील्ड महाशय ने अपनी साइकोलाजी एण्ड मारल्स नामक पुस्तक मे बड़े ढंग से बताया है। "अपने आपको जानो, अपने आपको स्वीकार करो और अपने आप एक बन जाओ" यह मानसिक विभाजन के अन्त करने और मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त करने का उपाय है। इनका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य का आचरण पहले से निम्न कोटि का हो जावेगा। आचरण से तो मनुष्य का नैतिक स्तर ही बना रहेगा, परन्तु उनकी कृत्रिमता और उसका असाधारण अभिमान उसके मन से चला जावेगा। ऊपर से ऐसा व्यक्ति उच्च कोटि की नैतिकता को धारण करता हुआ नही दिखाई देगा, परन्तु भीतर से उसकी नैतिकता ठोस आत्मज्ञान पर आधारित रहेगी। स्वस्थ व्यक्ति की नैतिकता मे स्वाभाविकता रहती है, और अस्वस्थ व्यक्ति की नैतिकता मे दिखावटीपन अधिक रहता है। इस दिखाऊ नैति-कता के सुधार के बिना और जीवन मे सतुलन लाये बिना मनुष्य का आन्तरिक द्वन्द्व अर्थात् मन की विभाजन की अवस्था नहीं जाती।

नई मानसिक चिकित्सा विधि

मनुष्य को किसी प्रकार का मानसिक रोग इसलिये भी होता है क्योंकि वह उस रोग को चाहता है। रोग मनुष्य की मानसिक बेचैनी को दूर करने का उपाय है। कितने ही रोग उन मनोभावों के प्रतीक हैं जो दबाये गये हैं। मान लीजिये किसी व्यक्ति को अपने स्नेही के विषय में चिन्ता है कि वह उसे प्रेम करेगा अथवा नहीं। जब तक यह चिन्ता चेतन मन की वस्तु रहती है उसे मानसिक रोग नहीं होता। इस प्रकार की चेतना केवल मनुष्य के मन को अशान्त बनाती है। जब मनुष्य इस प्रकार की चिन्ता को भुला देने की चेष्टा करता है तब उसे अज्ञात अशान्ति और अकारण चिन्ता होने लगती है। इसी प्रकार की मन-स्थिति सिर की पीड़ा में प्रगट होती है।

अब मनोचिन्ता इस कारण हुई थी कि कहीं दूसरा व्यक्ति उसके स्नेही का प्रेम न छीन ले तो इस प्रकार की चिन्ता के दमन होने पर ऐसे व्यक्ति का आँख का रोग हो जाता है। कितने ही लोगों को आँख का वास्तविक रोग कुछ भी नहीं होता, परन्तु उन्हें अनेक प्रकार से आँख का उपचार कराते रहना ही पड़ता है। एक ऐसे रोगी को बार-बार ऐनक बदलने पड़ते थे और कोई ऐनक उसे नहीं लगता था। इस प्रकार के रोगी तभी होते हैं जब मनुष्य के स्नेहाभिलाषी और आदर्शमय स्वत्व में विरोध होता है जिनके कारण मनुष्य अपनी हृदय की भूख को भुला देने की चेष्टा करता है।

प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोगी अपने आपसे घृणा करता है; अर्थात् वह अपने भोगेच्छुक स्वत्व को स्वीकार नहीं करना चाहता। यदि उसने इस प्राकृतिक स्वत्व के वश मे होकर कोई काम कर डाला हे तो वह उसे भूल जाना चाहता है। बार-बार ऐसी बातों को भूलने के प्रयत्नस्वरूप जब व्यक्ति ऐसी घटनाओं की याद भी करना चाहता है तो वे याद नहीं आतीं। जब तक मनुष्य के मन मे मौलिक परिवर्तन नही हो जाता, अर्थात् जबतक उनका दृष्टिबिन्दु बदल नहीं जाता तबतक आत्मग्लानि उत्पन्न करनेवाली घटनाये उनकी स्मृति-पटल पर नहीं आतीं। इस प्रकार का घृणा का ही परिणाम है कि मनुष्य मे अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। नई मानसिक चिकित्सा मनुष्य को अपने आपको स्वीकार कराना सिखाती है। वह मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों मे एकता स्थापित करने की चेष्टा करती है। रोगी मनुष्य अपने आपसे घृणा करता है। इस घृणा की मनोवृत्ति में आधुनिक चिकित्सा विधि परिवर्तन करती है। रोगी मनुष्य मे आदर्शवादिता रहती है, परन्तु इसी आदर्शवादिता के कारण वह अपने पूरे स्वत्व को स्वीकार करने मे असमर्थ रहता है। जिस तत्व को मनुष्य स्वीकार नहीं करता वह उसे अनेक प्रकार से कष्ट देता है। वह रोग बनकर बाहर प्रकाशित होता है।

मानसिक चिकित्सक का कार्य रोगी को अपने आपसे प्रेम करना सिखाना है। परन्तु इस प्रकार का प्रेम करना तबतक संभव नहीं जबतक मनुष्य अपने पूरे स्वत्व को न माने और उसे भला न समझे। मानसिक चिकित्सक अपनी विशेष विधि से रोगी के अनुमानों को मानस-पटल पर लाकर अपने आपको मानने मे सहायता देता है। जो तत्व पुराने समय किसी प्रकार के आचरण के प्रेरक थे वे आज भी वर्तमान हैं। जबतक उन्हें बुरा माना जाता है वे स्मृति-पटल पर नहीं आवेंगे और तबतक मनुष्य के व्यक्तित्व में एकत्व स्थापित नहीं होता। मानसिक चिकित्सक मनुष्य का दृष्टिकोण बदल देता है। फिर पुराने अनुभव पटल पर सरलता से आजाते हैं और मनुष्य के व्यक्तित्व मे एकता सरलता से स्थापित हो जाती है।

रोगी मनुष्य न केवल अपने आपसे घृणा करता है वरन् दूसरे लोगों से भी घृणा करता है। उसका घृणा का भाव दूसरे लोगों के ऊपर भी आरोपित हो जाता है। संसार मे जो कोई मनुष्य उसे मिलता है वह स्वार्थी ही दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि वह स्वयं स्वार्थी है। वह अपनी प्रेम-शक्ति को बाहर न भेजकर अपने आप पर ही आरोपित कर लेता है। इस प्रकार एक तरह से वह स्वार्थी होता है और दूसरी तरह वह अपने आपसे घृणा भी करता है। यदि मानसिक रोगी किसी बाहरी व्यक्ति को घृणा करने लगे तो उसका मानसिक रोग छूट जाय। दूसरे व्यक्ति को प्यार करना अपने आपको प्यार करने की पहली सीढ़ी है।

रोगी मनुष्य पहले चिकित्सक को प्यार करता है फिर वह अपने आपको प्यार करता है और यही प्यार आरोग्य-प्राप्ति करने का उपाय है। परन्तु रोगी किसी व्यक्ति को प्यार करे इसके लिए यह आवश्यक है कि स्वयं चिकित्सक उसे प्रेम की दृष्टि से देखे। चिकित्सक का स्वार्थ-त्याग का भाव रोगी को उसकी ओर आकर्षित करता है और जब वह चिकित्सक को प्यार करने लगता है तो वह उसके समक्ष सभी पुरानी अनुभूतियों को कह सुनाता है। इन अनुभूतियों को सुनने के पश्चात् यदि चिकित्सक रोगी को प्यार की दृष्टि से ही देखता रहा तो रोगी स्वयं अपने आपको प्यार करने लगता है अर्थात् वह विचार करने लगता है कि सब प्रकार की त्रुटियों के होते हुए भी उसका जीवन पर्याप्त मूल्यवान है। अपने जीवन को इस प्रकार मूल्यवान समझने से मनुष्य की मानसिक बेचैनी जाती रहती है और वह स्वस्थ हो जाता है।

रोगी में प्रत्येक भाव उत्पन्न करने की विधि ही सच्ची मानसिक चिकित्सा विधि है। प्रेम त्याग से पैदा होता है। प्रेम की कसौटी प्रेमी के लिये कष्ट सहना

है। अतएव जितना ही हम रोगी के लिये कष्ट सहने के लिये तैयार रहते हैं हम उतना ही उसके मन में अपने प्रति सद्भाव उत्पन्न करते हैं। रोगी मनुष्य में मनुष्य के भीतरी हेतुओं और विचारो को जानने की अद्भुत शक्ति होती है। यदि हम अपने स्वार्थ के लिये रोगी को चिकित्सा करते हैं तो रोगी इसे समझ जायगा। इससे वह और भी स्वार्थी बन जायगा। हृदय के प्रसार से ही रोग का विनाश होता है। यह हृदय का प्रसार पहले पहल चिकित्सक, जो रोगी द्वारा अपना कल्याणकर्ता मान लिया जाता है, के प्रति होता है फिर वह दूसरे लोगो के प्रति होता है।

फ्रायड महाशय का कथन है कि रोगी की कामशक्ति दूसरे पदार्थ के प्रति न लगकर अपने मे ही आरोपित हो जाती है। इससे उसका प्रसार अथवा विकास न होकर विकार होता है। वह दुरुपयोगी न बनकर प्रतिगामी बन जाती है। इसी से रोग उत्पन्न होते हैं। यह बात सत्य है कि अब इस कामशक्ति को पुराने विषय पर फिर से नहीं लगाया जा सकता; उसे किसी दूसरे विकसित विषय पर जाना ही होगा। पुराना विषय उस काल के लिये ही ठीक था जब कि रोगी का मन उसमे फँसा था। पुराने विषय मे ही कामशक्ति को लगाना उसका विकास न कर ह्रास ही करना है। परन्तु जबतक वह पुराने विषय से लिपटी हुई है तबतक वह आगे भी नहीं जा सकती। अतएव पुराने विषय की चेतना पर लाना आवश्यक होता है। चेतना पर आने पर पुराने विषय से वह विवेक के कारण अलग हो जाती है और फिर वह नये विषय पर आ जाती है। इस कार्य में चिकित्सक माध्यम का कार्य करता है। दबी कामशक्ति पहले उसी व्यक्ति पर आरोपित होती है। पीछे वह दूसरी ओर जाती है।

उक्त कथन का तात्पर्य इतना हो है कि प्रेम एक बार विकृत हो जाने पर उसमे सुधार मानसिक चिकित्सक के द्वारा होता है। फिर यही प्रेम दूसरे पदार्थों पर चला जाता है। प्रेम में विकार उत्पन्न होने पर वह घृणा का रूप धारण कर लेता है। अपने अनुभव मे किसी पदार्थ से घृणा करना अपने आपसे ही घृणा करना है। जो कुछ मनुष्य अनुभव करता है वह उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति अपने किसी पुराने अनुभव को घृणा की दृष्टि से देखता है और इसके कारण वह उसे विस्मरण करने की चेष्टा करता है तो वह अपनी प्रेम-शक्ति को विकृत रूप में उसी पदार्थ मे अथवा अनुभव मे फँसाये रहता है। चेतन मन की किसी प्रकार की घृणा अचेतन मन से उससे प्रेम का सूचक है। चेतन मन मे अचेतन मन की भावना को न आने देने के कारण ही वह घृणा का रूप ले लेती है। यदि चेतन मन का प्रतिबन्ध हट जाय तो अपने

मूल रूप मे प्रकाशित हो जाय। चिकित्सक इस दबी भावना की शक्ति को प्रकाशित करने मे सहायक होता है। वह चेतन और अचेतन मन में एकत्व स्थापित करने के लिए अनिवार्य है।

मन का एकत्व न केवल उनके चेतना के समक्ष आने से होता है, वरन् दूसरी तरह से भी आत्म-निर्देश द्वारा हो जाता है। यदि हमारी अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ केवल चेतना मे उपस्थित होकर ही सुलझे तो यह कार्य असम्भव हो जाय। न जाने कितनी मानसिक ग्रन्थियाँ प्रत्येक व्यक्ति के मन मे पडी रहती हैं, इन सबको कब तक सुलझाया जा सकता है। फिर राग-द्वेष के अनुभव के कारण प्रतिदिन और ग्रन्थियाँ बनती जाती हैं। इन सबको कैसे सुलझाया जा सकता है। इन ग्रन्थियों को सुलझाने का मार्ग आत्मनिर्देश का अभ्यास और रचनात्मक कार्य में अपने आपको लगाये रखना है। कर्मयोग का तात्पर्य यही है कि मनुष्य रचनात्मक कार्यों के द्वारा अपनी मानसिक शुद्धि करता है और उसकी अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ बिना इसके जाने ही अपने आप नष्ट हो जाती ह।

दूसरा अभ्यास आत्म-निर्देश का अभ्यास है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक ऐसा तत्व है जिसके प्रति अपने आपको समर्पित कर देने से मनुष्य अनेक प्रकार की वासनाओ और कलुषित भावों से अपने आप ही मुक्त हो जाता है। संसार के धर्म मनुष्य को इसी तत्व की ओर ले जाते हैं और इस प्रकार मानव समाज को अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से मुक्त करते हैं। वूल महाशय का कथन है कि जिस मनुष्य की धार्मिक भावनाएँ दृढ़ हैं उसे मानसिक रोग नहीं होते और चार्ल्स युग महाशय अपने अनुभव से कहते हैं कि उनके पास कोई ऐसा मानसिक रोग नही आया जिससे धार्मिक विश्वास दृढ हो और जबतक उसके मानसिक विश्वास दृढ़ नहीं हो गये तबतक वह मानसिक रोग से पूर्णतः मुक्त भी नहीं हुआ।

सभी प्रकार के मानसिक रोग मनुष्य को असन्तोष के कारण होते हैं। धर्म मनुष्य को संतोष की शिक्षा देता है। परम पुरुष मे विश्वास करनेवाला व्यक्ति चाहे वह कितना ही धनी, विद्वान् और यशस्वी क्यों न हो जाय अपनी आन्तरिक अनुभूति मे अपने को नगण्य ही पाता है। वह दूसरों के प्रति ईर्ष्या के भाव से मुक्त नहीं है। जैसे बच्चे में ईर्ष्या का भाव रहता है, हम सभी में यह ईर्ष्या का भाव रहता है। यह भाव तबतक नहीं होता जबतक मनुष्य अपने आपको ससार की महान् से महान् सत्ता का··· प्रिय नहीं जान लेता अथवा जबतक वह इस सत्ता से अपना एकत्व स्थापित नहीं कर लेता। इस प्रकार की सत्ता की उपस्थिति

मे विश्वास हो जाना एक बडे सौभाग्य की बात है। कितने ही लोग ऊपर से धार्मिक बने रहते हैं परन्तु भीतर से धर्म-तत्व से शून्य रहते हैं। इस प्रकार के लोगो को भारी मानसिक सतोष रहता है। धर्म-विश्वास अथवा उसकी अनुभूति न तो किसी प्रकार की क्रिया का और न बौद्धिक परिश्रम का परिणाम है। बुद्धि की प्रवीणता मनुष्य को लौकिक बातो मे कुशल बनाती है। उसे देश-काल कार्य-धारणाभाव के परे तत्व से परिचय नही कराती। इसके लिए ऐसे व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक है जिसे अलौकिकत्व से एकत्व किये हो। ऐसे व्यक्ति के संपर्क मे आते ही अनेक प्रकार के संशय, भ्रम और मानसिक असंतोष अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

जब परम तत्व मे रमण करनेवाला व्यक्ति किसी मानसिक रोगी के सम्पर्क मे आता है तो वह उसे मानव के रूप मे न देखकर नारायण के रूप में देखता है। इस प्रकार का भाव उस रोगी मे उन शक्तियों को जमा देता है जो उसे शीघ्र ही स्वास्थ्य प्रदान कर देती हैं। नारायण का भाव एक बार मन मे आने पर मानसिक खिचाव की अवस्था का अन्त हो जाता है। मनुष्य समझ जाता है कि उसके व्यक्तित्व के भीतर रहनेवाले सभी तत्व भले हैं क्योकि सभी को बनानेवाला ससार का स्वामी विवेकीतत्व है। सभी कार्य उसी की प्रेरणा से होते हैं अतएव किसी काम के लिए आत्म-भर्त्सना करना व्यर्थ है।

जो कुछ किया सो तू किया, मै कुछ कीन्हा नाहिं।
जो तू कहे कि मै किया, तो तू ही था मुझ माँहि॥

मानसिक शैथिलीकरण का भाव संक्रामक होता है। परम तत्व में विश्वास करनेवाला व्यक्ति सदा सद्भावावस्था मे रहता है। जो कुछ होता है सब भले के लिए होता है यह विचार सदभावावस्था का उत्पादन है। जब रोगी ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क मे आता है जिसे स्वय सद्भावावस्था का अनुभव तत्व प्राप्त है वह सद्-भावावस्था की ओर प्रेरित हो जाता है। उसका मानसिक खिचाव अपने आप ही नष्ट हो जाता है। सद्भावावस्था अथवा मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था मे जो भी विचार रोगी के मन मे चले जाते हैं वे मनुष्य के व्यक्तित्व मे अद्भुत परि-वर्तन कर देते हैं। अन्य कोटि का मानसिक चिकित्सक इसी शक्ति से अनेक प्रकार के मानसिक रोगो की चिकित्सा करता है। यह चिकित्सा रोगी के जाने ही होती है और कभी उसके अनजाने ही हो जाती है।